॥ ओ३म् ॥

श्रीलक्ष्मीधरविरचित

अद्वैतमकरन्द

स्वयंप्रकाशयतिविरचित संस्कृत व्याख्या

एवं

हिन्दी-अनुवाद-सहित

अनुवादक

स्वामी श्री रामानन्द जी

तथा

स्वामी श्री सनातन देव जी

प्रकाशक :

श्रीनारायणदास मुलतानी

दु० नं० ६६८, फराशखाना,

दिल्ली

संवत् २०१४

-: प्राक्कथन :-

अद्वैत-वेदान्त-साहित्य में जिस प्रकार श्री शङ्कराचार्य कृत 'दशश्लोकी' प्रसिद्ध है, उसी प्रकार, श्री लक्ष्मीधर विरचित 'अद्वैतमकरन्द' नामक ग्रन्थ भी अपने युक्ति-सौष्ठव और संक्षिप्तता के लिए प्रसिद्ध है। इसमें अद्वैत-दर्शन का समग्र तत्त्व २८ अनुष्टुप् श्लोकों में ऐसे भर दिया गया है जैसे गागर में सागर। इसके एक-एक श्लोक का विस्तार एक-एक ग्रन्थ में किया जा सकता है। अद्वैत-सिद्धान्तों के मण्डन के लिए इसके श्लोकों का स्मरण कर लेना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

इसके लेखक श्री लक्ष्मीधर कवि के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। इन्होंने 'अद्वैतमकरन्द' के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत की 'अमृत तरंगिणी' नाम की टीका और 'भगवन्नाम कौमुदी' नामक दो अन्य ग्रन्थ रचे थे।❀ 'भगवन्नाम कौमुदी' के एक लेखसे यह भी ज्ञात हुआ है कि इनके गुरु का नाम 'अनन्तानन्द रघुनाथ स्वामी' था।

इनके काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। पूना के महा-महोपाध्याय श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' (पृष्ठ ५३८) में इनका काल १३२० ई० बताया है। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नाम-कीर्तन-प्रचारक श्री बोधेन्द्र सरस्वती ने इन्हें राजा भोज का समकालीन (११ शताब्दी

❀'येन भागवतव्याख्या कृतामृत तरङ्गिणी अद्वैतमकरन्दश्च सोऽकरोन्नामकौमदीम्।'

ई०) बताया है। आधार का वर्णन दोनों में से किसी ने नहीं किया।

फिर भी दो साक्षियों से इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ ज्ञात होता है। प्रसिद्ध मीमांसाकार आपदेव के पुत्र श्री अनन्तदेव (या नन्ददेव) ने 'भगवान्नाम कौमुदी पर टीका की है। स्व-रचित 'स्मृतिकौस्तुभ' के एक प्रसंग के आधार पर यह कहा जाता है कि ये अनन्त देव कूर्माचल के राजा बाजबहादुर के आश्रित थे। राजा बाजबहादुर का समय १६४४-१६६४ ई० है; अतएव श्री लक्ष्मीधर १७ वीं सदी के प्रारम्भ में अवश्य रहे होंगे।

श्री भारती-तीर्थ कृत 'वाक्य-सुधा' (दृग्दृश्य विवेक) की टीका श्री ब्रह्मानन्द भारती ने की है। इसके १६ वें श्लोक की टिप्पणीमें श्री लक्ष्मीधरके नामसे कुछ वाक्य 'अद्वैतमकरन्द' से उद्धृत हैं। इन्हीं ब्रह्मानन्द भारती की एक दूसरी रचना 'पुरुषार्थ प्रबोध' है जिसमें अद्वैत वेदान्त के दृष्टिकोण से शिव की महिमा का वर्णन है। उधर १५५४ से १६२६ ई० में वर्तमान श्री अप्पय दीक्षित ने स्वलिखित 'शिवतत्त्व विवेक' में पुरुषार्थ-प्रबोध का उल्लेख किया है (पृष्ठ १००)। श्री ब्रह्मानन्द भारती ने श्री विद्यारण्य स्वामी के गुरु श्री भारतीतीर्थ के ग्रन्थ पर भी टीका लिखी है। श्री विद्यारण्य स्वामी का काल १४ वीं शताब्दी है। अतएव ब्रह्मानन्द भारती का समय १५ वीं शताब्दी का अन्त ठहरता है अतः लक्ष्मीधर का समय १५ वीं शताब्दी का आरम्भ मानना होगा। सम्प्रति इनके काल के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है।

'अद्वैतमकरन्द' के टीकाकार श्री स्वयंप्रकाश यति, उन्हीं के लेखानुसार, कैवल्यानन्द योगीन्द्र के शिष्य हैं। उन्होंने सर्व-श्री श्रद्धानन्द, शिवानन्द और सच्चिदानन्द के प्रति श्रद्धांजलि प्रदान की है। इस टीका के अतिरिक्त नीचे लिखे ग्रंथ भी टीकाकार ने लिखे हैं :–

(१) श्री शंकराचार्य कृत 'हरि-स्तुति' की टीका 'हरि तत्त्व-मुक्तावली' (२) श्री शंकराचार्य कृत 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' की टीका 'तत्त्व सुधा' (३) श्री शंकराचार्य कृत 'मनीषापञ्चक' की टीका। भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टिटयूट पूना द्वारा प्रकाशित एक सूची में पृष्ठ ४४ पर क्रम-संख्या ३०० पर यह लेख है:–'अद्वैत मकरन्द व्याख्या स्वयंप्रकाशानन्दः लिपिकालः श १६२६–अर्थात् १७०४ ईस्वी। 'सिद्धान्त लेश संग्रह' के टीकाकार अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ तथा 'तत्त्वानु-सन्धान' और उसकी टीका 'अद्वैत चिन्ता कौस्तुभ' के लेखक श्री महादेवानन्द सरस्वती के गुरु स्वयंप्रकाशयति ही वस्तुतः अद्वैतमकरन्द के व्याख्याकार स्वयंप्रकाशयति हैं और इनका समय १७०४ ईस्वी है। ये त्रिचनापल्ली जिले में कावेरी नदी के किनारे निवास करते थे।

श्री स्वयंप्रकाशयति की टीकाएं स्पष्ट, पूर्ण तथा अनाव-श्यक विस्तारसे रहित हैं। अद्वैत-साहित्यसे दिए गए उद्धरणोंसे उनकी विद्वत्ता की गहराई प्रकट है। अद्वैत दर्शनमें रुचि रखने वाले विद्वानों को चाहिए कि वे इसका अवलोकन अवश्य करें।

श्री पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी रामानन्द जी महाराज की

: म :

बड़ी कृपा हुई कि इस अमूल्य ग्रन्थ रत्न का यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के कर कमलों में मैं उपस्थित कर सका। श्री पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी सनातन देव जी महाराज का भी मैं अत्यन्त आभारी हूं उन्होंने सारे ग्रन्थ की भाषा का पुनरवलोकन कर श्लोकों को उनके विषयों के अनुकूल शीर्षकों से सुसज्जित किया : इससे ग्रन्थ को समझने में पाठक को बहुत सुगमता हो गई है।

उक्त महात्माओं से प्रार्थना है कि वे हम पर अपनी पूर्ण कृपा दृष्टि सदा बनाये रखेंगे।

इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ जिन महानुभावों ने आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनका भी मैं सादर धन्य-वाद करता हूं।

आशा है कि वेदान्त तत्त्व का मनन रूप यह छोटा-सा ग्रन्थ विचारकों को अपूर्व शक्ति प्रदान करने का साधन होगा।

दिल्ली
२६-८-५७ ई०

सेवक
नारायण

विषयानुक्रमणिका

॥ ॐ ॥

भूमिका

'अद्वैतमकरन्द' का प्रतिपाद्य

'श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः' अर्थात् करोड़ों ग्रन्थों में लिखी जा सकने वाली बात आधे श्लोक में भी कही जा सकती है ऐसी प्रसिद्धि अद्वैत-दर्शन केसम्बन्ध में चली आ रही है। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त-साहित्य अनेक प्रकरण ग्रन्थों (छोटे ग्रन्थों) से भरा पड़ा है। इनमें बहुत ही हृदयग्राही छन्दों में अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों को इतनी सरल भाषा में समझाया गया है कि अनपढ़ और अज्ञ भी उन्हें सरलता से समझ सकते हैं।

श्री लक्ष्मीधर विरचित 'अद्वैतमकरन्द' ऐसे ही सुन्दर हीरों में से एक है। इसमें अद्भुत लाघव और प्रभावशाली युक्तियों से अद्वैत सिद्धान्तों का मनन किया गया है।

ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को अद्वैतमकरन्द का फलरूप प्रतिपादित किया है। इनका कुछ विशद विवरण यों किया जा सकता है:—

जीवन्मुक्ति-पूर्वक विदेहमुक्ति

सम्यक्-विचार-पूर्वक उत्पन्न हुआ ब्रह्मात्मा का अभेदज्ञान ही जीवन्मुक्तिरूप फल प्रदान करता हुआ विदेहमुक्ति करने में समर्थ होता है। क्यों कि श्री वसिष्ठ जी ने कहा है कि

'जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः' अर्थात् जिसका जीते हुए ही ज्ञान से केवलभाव (अद्वैतावस्थान) हो गया वही विदेह-कैवल्य को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। अज्ञान-जन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि भाव भी 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' 'स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा को साक्षात् करके ही पाशरूप कर्तृत्वादि का अभाव होता है अन्यथा नहीं' इत्यादि श्रुतियां जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन करती हैं।

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीदथ महती विनष्टिः'। अर्थात् इसी शरीर के रहते ही यदि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया तो ठीक है नहीं तो बड़ी हानि होगी।' यह श्रुति भी जीवन्मुक्तिपूर्वक ही विदेहमुक्ति का प्रतिपादन करती है।

आत्मबोध का जनक महावाक्य

इस प्रकार जीवन्मुक्ति को प्राप्त कराता हुआ विदेह-मुक्ति का प्रापक ब्रह्मज्ञान ही इस मुमुक्षु को स्वस्वरूपाव-स्थान में अभिषिक्त करता है। इस प्रकार का महाज्ञान वेद के मस्तक स्वरूप उपनिषद् में स्थित महावाक्यों से अधिकारी पुरुष को होता है। जिस वाक्य के श्रवण के बाद और कोई वाक्य श्रवणयोग्य न रहे और अपने से जन्य ज्ञान प्रभाव के अनन्तर आप भी न रहे वह महावाक्य है। जिस वाणी के प्रभाव से जन्य महाबोध में सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है तथा जो सबका अधिष्ठान है; वह महावाक्यजन्य बोध है।

परन्तु इस प्रकार के महावाक्य के अर्थ का साक्षात् करने के लिए योग्य गुरु, अधिकारी शिष्य, उपदेश का प्रसंग, उपाधि का वर्णन, उपाधि का त्याग, चेतन का लक्ष्य और अन्त में अखण्ड चैतन्य रूपेण अवस्थान, इस प्रकार की पूर्ण सामग्री से युक्त होना चाहिए। महावाक्य छोटा होते हुए भी भावार्थ से भरा हुआ और वेदान्त शास्त्र का सार रूप है। उसके अर्थ के ग्रहण की जिसमें पूर्ण शक्ति होती है वही उससे लाभ उठा सकता है, दूसरा नहीं। जब आत्म-कृपा, ईश्वर कृपा, गुरु-कृपा और महावाक्य-कृपा होती है तब ही महावाक्य से बोध होता है। जब दयालु गुरु शिष्य को योग्य समझकर करुणा-दृष्टि-पूर्वक महावाक्य का उपदेश करते हैं तब आत्मा का जैसा अपरोक्ष ज्ञान होता है वैसा अपनी बुद्धि से किए हुए विचार से नहीं होता। महावाक्य श्रवण से बोध-रूप फल की नई उत्पत्ति नहीं होती किन्तु श्रवण अज्ञान का निवर्तक है। यह ही श्रवण की सामर्थ्य है। अज्ञान की निवृत्ति के बाद जो बोध शेष रहा वह ही आत्म-बोध है। इसलिए इन्द्रिय ज्ञानो-त्पादक नहीं; इन्द्रियादि का अविषय होता हुआ ही आत्मबोध होता है। इस तरह से ही महावाक्य आत्मबोध का जनक कहा जाता है।

इस प्रकार के महावाक्य से उत्पन्न हुए ब्रह्मसाक्षात्कार से जीवित अवस्था में ही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सर्व प्रतीतियों के निवृत्त होने को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। ब्रह्मसाक्षात्-युक्त चित्त की विश्रान्ति वाला जीवन्मुक्ति का अधिकारी होता है

अर्थात् साक्षात्कार के पश्चात् मनोनाश-वासनाक्षय करने से जीवन्मुक्त होता है।

ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं—उपासना करके ज्ञान को प्राप्त हुए और उपासनारहित ब्रह्मसाक्षात् करने वाले। जिसने उपासना करके ज्ञान प्राप्त किया है उसको उपासना के समय में ही वासनाक्षय और मनोनाश सिद्ध हुआ है; इसलिए ज्ञान के बाद वे सिद्ध करने नहीं पड़ते। परन्तु जिसने प्रथम उपासना नहीं की; उसे ज्ञान के बाद वासनाक्षय और मनोनाश का साधन करना पड़ता है।

जीवन्मुक्ति के तीन कारण

इस प्रकार तत्वज्ञान, मनोनाश, वासनाक्षय—ये तीनों जीवन्मुक्ति में कारण हैं। जब तीनों दृढ़ हो जाते हैं तब ही यथार्थ तत्त्वज्ञान होता है। उपासना-रहित को जो साक्षात्कार होता है वह अदृढ़ होता है। इसलिए उसे पूर्ण करने को वासनाक्षय और मनोनाश की आवश्यकता है।

तत्त्वज्ञान आवरण को निवृत्त करता है। वासनाक्षय विक्षेप को हटाता है। मनोनाश मलदोष को निवृत्त करता है। जब ये तीनों एक साथ सिद्ध होते हैं तब शरीर रहते विद्वान् जीवन्मुक्त होता है। बोध होने के बाद और विदेह कैवल्य के मध्य में जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्ति के बाद विदेह कैवल्य के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। जो जीवन्मुक्त होता है वह अपने भाव से विदेहमुक्त ही होता है। विदेहमुक्ति त्रिपुटीरहित आनन्द है, जीवन्मुक्ति में बाध

त्रिपुटी से साक्षीरूप से अवस्थान है।

जीवन्मुक्त का भाव लक्षण

आरम्भ में जीवन्मुक्त का भाव-लक्षण इस प्रकार होता है:—जब बोध स्वरूप में टिका होता है तब वह प्रसन्न रहता है। उस समय वह अपने को कृतार्थ समझता है। परन्तु जब वृत्ति बहिर्मुख होती है तब दुःखी होता है। अपने शुद्ध स्वरूप को जान लिया है तो भी वह उसमें थोड़े समय तक ही टिक सकता है। वह जगत् को झूठा समझता है परन्तु व्यवहार में उद्विग्न हो जाता है। 'जगत् झूठा है' ऐसा उसका वृत्ति-प्रवाह अखंडित नहीं रहता। उसकी जगत्-दृष्टि अभिनिवृत्त नहीं होती। जगत्वृत्ति को तोड़ने का यत्न करता रहता है। उसको आत्मामें आनन्द और जगत् भावसे दुःख होता रहता है। इसीलिए जगत् की अत्यन्त निवृत्ति की तरफ उसका प्रयत्न होता रहता है। इस प्रकार यत्न करते-करते वह साक्षिस्वरूप में टिकने लगता है। पहले उसका अहंभाव चिदाभास में था अब वह व्यवहार में भी साक्षी में टिका रहता है। उसे साक्षी का सदा निश्चय बना रहता है। व्यवहार में वह ग्लानि-युक्त या वैराग्य-युक्त भी होता है। कर्ता-पने के विशेष अभिमान से रहित होकर वह व्यवहार में प्रवृत्त होता है। मध्य अवस्था में अज्ञान और विक्षेपरूप प्रतिबन्ध अब उसे नहीं रहता। उसे जगत् के अनित्यता की भी याद रखनी नहीं पड़ती। उत्तम अवस्था में उसको अपने लिए अथवा अन्य के लिए या ज्ञान के लिए अथवा जीवन्मुक्ति के लिए कुछ कर्तव्य शेष नहीं

रहता; इसलिए उसका समभाव खण्डित नहीं होता। उसके समाधि और व्युत्थान दोनों ही सम हैं। उसके आनन्द का माप किसी प्रकार कोई कर नहीं सकता। 'मेरा प्रारब्ध समाप्त हो रहा है उसके बाद कैवल्य को प्राप्त हूंगा' ऐसा भाव उसका नहीं होता।

इस प्रकार रहता हुआ जीवन्मुक्त अज्ञानियों को अपने जैसा ही प्रतीत होता है सामान्य दृष्टि से उसमें कोई विशेषता मालूम नहीं होती।

जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति की तुलना

विदेह मुक्ति में शरीर न रहने की अथवा शरीर का भान न होने की विशेषता है परन्तु जीवन्मुक्त को शरीर सहित परमपद प्राप्त है, यह विशेषता है। यद्यपि जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का अन्तिम स्वरूप समान है तो भी विदेह कैवल्य जीवन्मुक्त को ही होता है। जीवन्मुक्त हुए बिना कोई भी विदेह कैवल्य को प्राप्त नहीं होता।

जीवन्मुक्ति चाहे कुछ वर्ष हो, चाहे मास, दिन, घंटे, आध घंटे या पाव घंटे ही हो; होनी अवश्य चाहिए। तब ही विदेह कैवल्य होगा। जीवन्मुक्त को भी भाव से विदेहमुक्त अवश्य रहना पड़ता है। जो भाव से विदेहमुक्त नहीं, वह जीवन्मुक्त भी नहीं। विदेह-मुक्ति के भाव की न्यूनता, मध्यमता और उत्तमता से ही जीवन्मुक्त की स्थिति का भेद है। जीवन्मुक्ति में यथार्थ ज्ञान है, विदेह कैवल्य ज्ञानस्वरूप है। जीवन्मुक्ति सबको एक प्रकार की नहीं होती, उसके तीन दर्जे ऊपर दिखला चुके।

जीवन्मुक्ति की विविधता

जीवन्मुक्ति एक होती हुई भी कर्मों की विचित्रतासे अनेक प्रकार की दीखती है। निश्चय सब जीवन्मुक्तों का एक है। अन्तिम फल भी सबको एक है। परन्तु आचार—व्यवहार और शान्ति में भेद होता है। जीवन्मुक्ति वर्णाश्रम धर्म के अनुसार रहते हुए भी होती है और वर्णाश्रम धर्म के आचार-रहित को भी; ऐसा जीवन्मुक्तों में देखने में आता है। जीवन्मुक्ति का हेतु तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय है; वर्णाश्रम-धर्म सहितपना या रहितपना नहीं है। जिस शुद्धि के निमित्त वर्णाश्रम धर्म हैं उस शुद्धि के होने के बाद ही ज्ञान की प्राप्ति होती है; इसलिए जीवन्मुक्त को उनकी आवश्यकता नहीं रहती। बाद में जो बर्ताव होता है वह केवल प्रारब्धानुसार होता है। यदि प्रारब्ध वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल हुआ तो विदेह कैवल्य तक वह उन धर्मों में ही लगा रहेगा और यदि प्रारब्ध वर्णाश्रम धर्मके विपरीत होगा उसका आचार वर्णाश्रम-धर्म से रहित होगा।

मन की शुद्धि, निर्लेपता, प्रसन्नता, निस्पृहता, निर्भयता आदि सत्त्वधर्म सबमें अवश्य होते हैं। किसी के ये भाव बाहर प्रत्यक्ष होते हैं, किसी के नहीं होते, परन्तु सूक्ष्मता से ये सबके अन्तःकरण में रहते हैं।

अति कर्मकाण्डी, अति तपस्वी, अति त्यागी, अति रागी, अति निस्पृही, अति बोलने वाले, विशेष रूप से मौन रखने वाले, ऐश्वर्य युक्त रहने वाले, अथवा पिशाच के समान रहने

वाले इत्यादि, सब प्रकार के, जीवन्मुक्त होते हैं। ऊपर कहा किसी प्रकार का आचार जीवन्मुक्ति में बाधक नहीं होता। वह अपनी तरफ़ से अमुक प्रकार से रहना पसन्द नहीं करता किन्तु प्रारब्धानुसार उसकी रहनी-करनी स्वाभाविक होती हैं। यह भी नियम नहीं कि एक ही प्रकार की रहन-सहन-करणी बनी रहे या ऐसा भी नियम नहीं कि एक ही प्रकार का प्रारब्ध बना रहे। जैसे कि फिल्म में जो चित्र जैसा पहले ले लिया गया वैसा ही क्रम-क्रम से खुलता जाता है।

जीवन्मुक्त भाव से विदेहमुक्त अवश्य रहता है। जो भाव से विदेहमुक्त नहीं वह जीवन्मुक्त नहीं। क्योंकि विदेह मुक्ति के भाव की न्यूनता, मध्यमता और उत्तमता से ही जीवन्मुक्त की स्थिति का भेद है। जीवन्मुक्त की वाणी अति गहराईसे, परावाणीके स्थान से, निकलती हैं। वह परा-वाणी के शब्दों को यथार्थ जान लेता है। यदि योग्य न समझे तो बाहर नहीं निकालता और कोई-कोई शब्द तो स्वाभाविक ही वैखरी वाणी में आकर-मिलकर बाहर निकल जाते हैं। उसका यह भाव नहीं होता कि मैं इन शब्दों को बोल रहा हूं। कोई भी प्रश्न उसके सन्मुख होते ही उसका उत्तर हृदय में स्फुरित हो आता है।

ज्ञान-अज्ञान का रहस्य

उसके जितने भी लक्षण दिखलाये जाते हैं, वे सब मानसिक होने से दूसरे की दृष्टि के विषय नहीं हैं। कितने ही मानसिक लक्षणों की जब स्थूल में छाया पड़ती है, तब उस

छाया से मानसिक का अनुमान किया जाता है। चित्त का प्रपंच की तरफ घूमते रहना—कभी भी आत्मा की तरफ न घूमना ही—अज्ञान है और आत्मा की तरफ घूम जाना ही ज्ञान है; अन्य कोई ज्ञान या अज्ञान नहीं है। इसलिए वास्तव में तो अज्ञान मानसिक भाव ही—मन की अवस्था ही—है। मन से अज्ञान का भाव, वहम, निकला कि अविनाभाव से ज्ञान-भाव वहां विराजमान हो जाता है। जिसको ऐसा ज्ञान हो वही ज्ञानी और शरीर रहते भी आत्म-बोध में स्थित जीवन्मुक्त है।

अज्ञान सूक्ष्म है इसलिए अज्ञान की निवृत्ति स्थूल में से देखी नहीं जा सकती। यद्यपि स्थूल शरीर आदि सम्पूर्ण जगत् अज्ञान का कार्य कहा जाता है, किन्तु वह अज्ञान नहीं है। क्यों कि उसके होते हुए भी जो अज्ञान है वह निवृत्त हो जाता है; जिसका अज्ञान निवृत्त हो जाता है, उसे शरीर और जगत् बन्धन रूप नहीं होता।

दो प्रकार का अज्ञान

शास्त्र में अज्ञान को दो प्रकार का कहा है—मूलाविद्या और तूलाविद्या। अज्ञानी को ये दोनों ही दुःखदाई हैं।

जीवन्मुक्त की मूलाविद्या नष्ट हो जाती है। तूलाविद्या कुछ समय तक रहती हुई भी जीवन्मुक्त को बन्धन और दुःख-दाई नहीं होती। जीवन्मुक्त के निश्चय में है नहीं—केवल दिखावा मात्र है। अज्ञानी के लिए दोनों ही पूर्णरूप से प्रबल हैं। मूलाविद्या संसार-वृक्ष की मूलरूप है। तूला-विद्या ऊपर

का सम्पूर्ण वृक्ष है। संसाररूप वृक्ष की जड़ जिसकी कट गई ऐसे जीवन्मुक्त को थोड़े समय के लिए चाहे वृक्ष खड़ा भी दीखे और हरा भी दीखे तो वास्तव में वह नहीं है।

जिसको यह खबर नहीं है कि इस विशाल वृक्ष की जड़ कट गई है—वह कटी हुई जड़ वाले वृक्ष को भी सजीव समझता है। ऐसा समझना ही अज्ञानियों का जीवन्मुक्त के विषय में होता है। जैसे कि किसी वृक्ष की जड़ तो कट गई हो किन्तु वह दूसरे वृक्षों के सहारे खड़ा हो—इसी तरह जीवन्मुक्त के संसार की जड़ कट गई है—यह अज्ञानियों को मालूम न हो, यह दूसरी बात है।

द्वन्द्वों की भी निवृत्ति

जीवन्मुक्त के द्वन्द्व भी निवृत्त हुए होते हैं—यह याद रखना। एक ही प्रकार के उलटे-सुलटे पदार्थ द्वन्द्व कहलाते हैं; जैसे कि, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, भय-अभय आदि। इन सबके दो-दो भावों से दुनिया चलती है। या यों कहो कि ये द्वन्द्व ही दुनिया रूपी गाड़ी को चलाने के लिए पहिये हैं। इन दो-दो भावों को ही द्विविधा कहते हैं। जिसकी द्विविधा-द्वन्द्व निवृत्त हो गए उसके लिए जगत् अनेक प्रकार का होते हुए भी एक प्रकार का हो जाता है। दो की बनी दुनिया से जब दो-पना निवृत्त हो जाता है तब परब्रह्म ही शेष रहता है। पदार्थों में नामरूप की सत्यता, जो दृढ़ हो गई थी वह, नहीं रहती। इसी कारण से जीवन्मुक्त का समभाव रहता है। व्यवहार में उत्तम और अधम का भाव होते हुए भी ज्ञानी की भावरूपा दृष्टि में समानता ही रहती है।

जीवन्मुक्त और व्यवहार

मनुष्य जो देखता-सुनता है वह अपनी बुद्धि से ही वास्तव में देखता-सुनता है अर्थात् पंच इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण-त्याग अपनी बुद्धि के अनुसार करता है—न कि इन्द्रियों से। इन्द्रियां तो संयोगादि के लिए केवल द्वार-मात्र हैं। अज्ञानकाल में अनेक विचित्र भावों से रंगी हुई बुद्धि पुरुष का वेष धारण करके जगत् में नृत्य करती है। परन्तु जब बुद्धि की विषमता —दृढ़ प्रपंचाकारवृत्ति—आत्मबोध से निवृत्त हो जाती है तब बुद्धि सम हो जाती है। समबुद्धि से जो कुछ देखा जाता है वह सब समतायुक्त बुद्धि से ग्रहण किया जाता है। जीवन्मुक्त की बुद्धि की जो समानता है वह सूक्ष्म भाव में है—आत्मभाव में है—स्थूल व्यवहार-भाव में नहीं। क्यों कि वह ज्ञानी है—पागल अज्ञानी नहीं। व्यवहार में उसकी बुद्धि व्यवहार के अनुकूल वर्तन करती है परन्तु आत्मभाव से विचलित नहीं होती। जैसे नट खेल में अनेक प्रकार की क्रिया करता हुआ, वेष धारण करता हुआ, सुखी-दुःखी दीखता हुआ—अपने निश्चय में विकार-वाला नहीं होता; इसी तरह सर्व-कार्य करती हुई जीवन्मुक्त की बुद्धि विकार-भाव को नहीं धारण करती। जीवन्मुक्त सबमें मिला दीखता है तो भी उसकी किसी में किंचित् भी आसक्ति नहीं होती। क्षणभर में सबको हटाकर आप अपने निश्चय में टिका रहता है। जीवन्मुक्त का निश्चय ही जीवन्मुक्ति है। यदि निश्चय नहीं तो कुछ भी नहीं। ज्ञान-संस्कार युक्त आत्म-भाव वाली बुद्धि को आत्मा

ही सबसे अधिक प्रिय होता है। वह बुद्धि आत्मा को कभी नहीं छोड़ती। ऐसी जिसकी प्रज्ञा (बुद्धि) हो चुकी वही जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त को जो सुख होता है वह सुख राजा-महाराजा और इन्द्रादि देवताओं को भी नहीं होता, वह सुख आनन्द का समुद्र है किन्तु, ज्ञाता के भिन्न-भाव से रहित है। जीवन्मुक्त आनन्द का समुद्र होते हुए भी बाधितानुवृत्ति से उस आनन्द का भोक्ता है। यह ही विदेहमुक्ति से विशेषता है।

जीवन्मुक्त का सुख एकदम प्रत्यक्ष है—देशकाल और शरीर के रूपान्तर की उसे आवश्यकता नहीं। पूर्ण जीवन्मुक्त वही है जिसको विदेह-मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, तो भी, मुक्त होना पड़ता है। जो जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों से परे हो और साथ ही दोनों का अनुभव करने वाला हो वही सच्चा जीवन्मुक्त है।

ज्ञानी का व्यवहार

जब व्यवहारासक्त मनुष्य ज्ञान और ज्ञानी की अत्यन्त प्रशंसा सुनते हैं तब ऐसी शंका किया करते हैं कि ज्ञानी शरीर के साथ रहता हुआ जगत् का व्यवहार किस प्रकार करता होगा। वे अपनी बुद्धि के माप से ज्ञानी को मापने लगते हैं। वे इस प्रकार विचार करने लगते हैं—'जब ज्ञानी में किसी प्रकार की कामना और रागद्वेष नहीं तब व्यवहार होना असम्भव है। राग-द्वेष-रहित जब हमसे व्यवहार नहीं होता तो ज्ञानी से भी न होना चाहिए, क्यों कि ज्ञानी भी हम जैसा ही मनुष्य है।'

यदि ऐसा मान लिया जाय कि ज्ञानी व्यवहार करता ही नहीं तो यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानी का व्यवहार भी शास्त्र में सुनने में आता है।

यदि ऐसा विचार किया जाय कि आत्मा का बोध रखते हुए ज्ञानी व्यवहार करता होगा तो यह भी ठीक नहीं बैठता। क्योंकि चित्त एक स्थान पर रहा करता है। आत्मा और व्यवहार इन दो स्थानों में चित्त एक साथ नहीं लग सकता। इसलिए ज्ञानी का व्यवहार होता होगा हमारी समझ में नहीं आता।'

इस प्रकार की शंका की निवृत्ति ज्ञान के बिना यथार्थ रीति से नहीं हो सकती। क्योंकि व्यवहार स्थूल में और स्थूल दृष्टि में होता है और ज्ञान अन्तर में-साक्षी की दृष्टि में—होता है। स्थूल व्यवहार क्रिया रूप है और ज्ञान बोधरूप है। स्थूल क्रिया अन्य के जानने का विषय है और बोध आत्मा का होने से अन्यके जानने का विषय नहीं। इसलिए ज्ञानी का व्यवहार उनकी समझ में नहीं आता।

अज्ञानी की बुद्धिमत्ता ?

ज्ञानी के व्यवहार-भाव को समझने के लिए अज्ञानियों की मुख्य अड़चन तो यह होती है कि अज्ञानी अपने को शब्द-मात्र से भले ही अज्ञानी कहे, परन्तु जब वह किसी बात को समझने का प्रयत्न करता है तब 'मैं ज्ञानी हूं—जानने को समर्थ हूं' इस भाव से ही प्रयत्न करता है। अज्ञानी का किया ऐसा प्रयत्न कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो परन्तु वह प्रयत्न ज्ञानी

की माप का न होने से सफल नहीं होता। जब प्रयत्न निष्फल जाता है तब निर्णय करने वाला प्रसंग को झूठा मानता है; परन्तु ऐसा कभी नहीं मानता कि मैं झूठा हूं। अर्थात् अपने को अज्ञानी नहीं मानता। ऐसा होना स्वाभाविक है। सब अपने अपने माप से ही सबको मापना चाहते हैं; इसलिये अपने को अज्ञानी मानने वाला जगत् में ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता। जो सच्चे दिल से अपने को अज्ञानी मानता है वह बहुत जल्दी ज्ञानमार्ग में प्रयत्न करने लगता है।

जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि का स्वप्न में निर्णय करना अशक्य है, उसी प्रकार अज्ञानियों को ज्ञानी का निश्चय करना अशक्य है। अज्ञानी व्यावहारिक जगत् में है और ज्ञानी व्यावहारिक जगत् के साक्षीभाव में है। व्यावहारिक जगत् में डूबे हुए को साक्षीभाव समझ में नहीं आता। जैसे स्त्री की पोशाक प[illegible]ए और स्त्री के समान चेष्टा करने वाले पुरुष को अज्ञा[illegible]मझता है; इसी प्रकार ज्ञानी के उपाधि-रूप शरी[illegible] और प्रारब्ध की चेष्टा को देखता हुआ अज्ञानी भूल के [illegible] उसे अज्ञानी ही समझता है। व्यवहार की चेष्टा ज्ञा[illegible] और अज्ञानी दोनों में समानतासे होती हैं। अज्ञानी अज्ञान में दबकर चेष्टा करता है और ज्ञानी अज्ञा[illegible]से [illegible] [illegible]दब कर प्रारब्ध के वेगानुसार करता है। यही दोनों का अन्तर है, व्यवहार में अन्तर नहीं। जीवभाव अज्ञान है और आत्मभाव ज्ञान है। भाव किसी प्रकार का हो व्यवहार में अन्तर नहीं डालता।

जैसे जीवभाव रखकर व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार आत्मभाव रखकर व्यवहार कर सकते हैं। कार्य करने के समय न तो जीवभाव की आवश्यकता है और न आत्मभाव की। क्यों कि भाव बुद्धि से होता है और बुद्धि कार्य करते समय कार्य में लगी रहती है, इसलिए भाव और कार्य में बुद्धि एक साथ नहीं लग सकती। जीवभाव वाला कार्य को सत्य समझ कर करता है और आत्मभाव वाला कार्य को व्यावहारिक या मिथ्या समझकर करता है। दोनों की समझ का अन्तर है कार्य में अन्तर नहीं होता। ज्ञानी और ज्ञान विलक्षण हैं उन्हें जो तत्त्व से जान जाता है वह तत्त्वरूप हो जाता है।

विदेह-मुक्ति

जिसको मोक्ष, परमपद, परमधाम, कैवल्य, निर्वाण आदि कहते हैं, वह ही विदेह-मुक्ति है। ये सब शब्द पर्याय हैं। जैसे बन्ध और मोक्ष का कथन मायिक है इसी प्रकार विदेह-मुक्ति शब्द भी मायिक है। विदेह-मुक्ति का स्वरूप कथन से बाहर है। जीवन्मुक्ति की अपेक्षा से ही विदेह-मुक्ति का कथन है। परतत्त्व में जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति कोई भी नहीं। व्यावहारिक शरीर का भान होते हुए परमतत्त्व के निश्चय में टिकाव होना जीवन्मुक्ति है। शरीर रहित होते परम-तत्त्व रूप से अवस्थान विदेहमुक्ति है। जो स्थिति पर ब्रह्म की है वही स्थिति विदेह-मुक्त की है। अपने अनादि अनन्त-तत्त्व में विदेह-मुक्त स्थित होता है। जिस प्रकार के देशकाल और अवस्था समझते हैं वह स्थिति ऐसे देश कालादि से रहित है।

वहां न एकता, न भिन्नता, न प्रकाश, न अन्धकार, नामरूप आदि से रहित, कुछ भी कह नहीं सकते। ज्ञानी जीवन्मुक्त ही उसे जान सकता है। अज्ञानी की वहां गम नहीं।

इन्हीं दोनों जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति को अद्वैतमकरन्द के फलरूप कहते हुए ग्रन्थकार ने प्रकरण को समाप्त किया है—

उपशान्तजगज्जीवशिष्याचार्येश्वरभ्रमम् ।
स्वतः सिद्धमनाद्यन्तं परिपूर्णमहं महः ॥२७॥

शेष ग्रन्थ इसी फल की प्राप्ति के लिए मननरूप हैं।

॥ हरि ओम् ॥

जेष्ठ शुक्ला १२ रविवार सं० २०१४
मारवाड़ी घाट नं० ६
दिल्ली

विनीतः—
रामानन्द

ॐ

अद्वैतमकरन्द

संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित

(वस्तुनिर्देशरूप मंगल)

नित्यं निरन्तरानन्दं चिद्घनं ब्रह्म निर्भयम् ।
श्रुत्या तर्कानुभूतिभ्यामहमस्म्यद्वयं सदा ॥१॥

श्रुति, तर्क और अनुभव के द्वारा मैं सर्वदा नित्यस्वरूप, अन्तररहित, आनन्दरूप, चैतन्यघन, भयरहित, अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ ॥१॥

(सगुणब्रह्मवन्दनरूप मंगल)

अम्बागृहीतवामार्धं वन्दे चन्द्रकलाधरम् ।
लावण्यमधुराकारं कारुण्यरसवारिधिम् ॥२॥

माता पार्वतीजी जिनके वाम भाग में सुशोभित हैं, जिनकी मूर्ति सुन्दरता के कारण मधुर है और जो करुणारस के समुद्र हैं; उन चन्द्रकलाधारी श्री शंकर भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥

(गुरुवन्दनरूप मंगल)

कैवल्यानन्दयोगीन्द्रपादकंजरजोरविः ।
राजते मे हृदाकशे मोहध्वान्तनिवर्तकः ॥३॥

मेरे हृदयाकाश में अज्ञानरूपी अन्धकार को निवृत्त करने वाला श्री कैवल्यानन्द योगीन्द्र के चरण कमलों का रजरूपी सूर्य प्रकाशित हो रहा है ॥३॥

शुद्धानन्दपदाम्भोजद्वन्द्वं सेवे यदुद्भवम् ।
निर्वाणरसमास्वाद्य हृष्टाः शिष्यालिपङ्क्तयः ॥४॥

शिष्यरूपी भ्रमरों की परम्परा जिनसे प्रकट हुए कैवल्य-रूपी रस को प्राप्त करके हर्षित हो रही है उन श्री शुद्धानन्द जी के चरण-कमल-युगल का मैं सेवन करता हूँ ॥४॥

सच्चिदानन्दयोगीन्द्रा जयन्ति भुवि केचन ।
यत्कृपाप्लवतस्तीर्णो मया संसारवारिधिः ॥५॥

जिनके कृपालेश से मैंने संसारसमुद्र को पार किया है वे कोई (मन-वाणी के अविषय) श्री सच्चिदानन्द योगीन्द्र इस लोक में विराज रहे हैं ॥५॥

(उपोद्घात)

इह खलु लक्ष्मीधरो नाम कश्चित्कवीन्द्रो निरन्तरनित्याद्यनुष्ठानशुद्धस्वान्ततया संजातविवेकवैराग्यशमादि-मुमुक्षावत आत्मविविदिषया संत्यक्तलोकवेदधर्मान्गुरुवर-चरणोपसर्पणपुरःसरं सम्यक्श्रुतवेदान्ततत्त्वेऽप्यसंभाव-नादिप्रतिबद्धज्ञानतयापरितुष्यतः कांश्चित्पुरुषधौरेयानु-पलभ्य संजातकरुणस्तेषां करतलबिल्वफलवत्स्फुटं वेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं सर्वज्ञं सर्वो-

पादानं नित्यं सर्वगमद्वयं देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यहंकार-साक्षि प्रत्यगभिन्नतया तर्कैः संभावयितुं किंचित्प्रकरण-मद्वैतमकरन्दाख्यमारभमाणश्चिकीर्षितस्य तस्याविघ्नेन परिसमाप्तये स्वेष्टदेवताप्रणामरूपं मङ्गलं स्वयमनु-ष्ठाय शिष्यशिक्षायै ग्रन्थतो निबध्नाति——

प्रति दिन नित्य कर्मादिके अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने से जिन्हें विवेक, वैराग्य शमादि और मुमुक्षा उत्पन्न हो गये हैं, आत्मजिज्ञासा के कारण ही जिन्होंने वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैततत्वका अच्छी तरह श्रवण भी किया है, किन्तु असम्भावना आदि दोषों से ज्ञान के प्रतिबद्ध हो जाने के कारण जिन्हें पूर्णतया तृप्ति नहीं है, ऐसे किन्हीं (मध्यम अधि-कारी) पुरुषश्रेष्ठों को देखकर जिन्हें करुणा आ रही है वे कविश्रेष्ठ लक्ष्मीधर उन्हें तर्कों द्वारा प्राण, मन, बुद्धि एवं अहंकार के साक्षी प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्नरूप से वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म की उपलब्धि, हाथपर रखे हुए विल्वफल के समान, सम्भव कराने के लिये इस अद्वैतमकरन्द नामक लघु प्रकरण को आरम्भ करते हैं। वह ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, सबका उपादान, नित्य, व्यापक एवं अद्वितीय है। [इस ग्रन्थ को आरम्भ करते हुए] इसकी निर्विघ्नसमाप्ति के लिये वे शिष्यों को शिक्षा देने के उद्देश्य से स्वयं अपने इष्ट-

देव को प्रणामरूप मंगल करते हुए इसे ग्रन्थ के साथ जोड़ते हैं—

मंगलाचरण

कटाक्षकिरणाचान्तनमन्मोहाब्धये नमः ।
अनन्तानन्दकृष्णाय जगन्मङ्गलमूर्तये ॥१॥

(कटाक्षकिरणाचान्तनमन्मोहमहाब्धये) जिन्होंने अपनी कृपाकटाक्षरूपी किरणों से नमस्कार करने वालों के अज्ञान-समुद्र को पी लिया है, तथा (जगन्मङ्गलमूर्तये) जो जगत् के लिये मंगलस्वरूप हैं, उन (अनन्तानन्दकृष्णाय) अनन्तानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण भगवान् को (नमः) नमस्कार है ॥१॥

कटाक्षो भक्तेषु तिर्यक्पातिता कृपादृष्टिः, तस्याः किरणेन प्रभयाऽऽचान्तः शोषितो नमतां नमस्कर्तॄणां मोहोऽज्ञानम्, स एवाब्धिः समुद्रो येन स तथा तस्मै । श्रीगुरुपरमेश्वरप्रसादरहितानां दुस्तरत्वाद्भ्रान्तिपरम्परातरङ्गयुक्तत्वाद्रागादिमहाग्राहादियोगाच्च युक्तमज्ञानस्य समुद्रत्वम् ।

कटाक्ष का अर्थ है भक्तों के प्रति डाली हुई तिरछी कृपादृष्टि । उस की किरण-प्रभा से आचमन कर लिया है—सुखा डाला है नमस्कार करने वालों का मोह अर्थात् अज्ञान, जो समुद्ररूप ही है, जिन्होंने, उन श्रीकृष्ण को [नमस्कार है] । श्री गुरुदेव और परमेश्वर के प्रसाद से शून्य पुरुषों के लिए दुस्तर अर्थात् भ्रान्ति-परम्परा रूप तरंगों से युक्त और रागादि महान् ग्राहों से पूर्ण होने के कारण अज्ञान की समुद्ररूपता उचित ही है ।

अनन्तानन्दकृष्णाय, अनन्तो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य आनन्दः स्वरूपं यस्य सोऽनन्तानन्दः; स चासौ कृष्णश्चानन्तानन्दकृष्णो वसुदेवकुमारस्तस्मै; जगन्मङ्गलमूर्तये जगतां लोकानां मङ्गलभूता सुखाभिवृद्धिकरी मूर्तिर्विग्रहो यस्य स तथा; तस्मै नमोऽस्तु ।

अनन्तानन्दकृष्णाय—अनन्त कहते हैं देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य को, ऐसा आनन्द है स्वरूप जिनका वे ही अनन्तानन्द, ऐसे अनन्तानन्द-स्वरूप जो श्रीकृष्ण हैं उन अनन्तानन्द कृष्ण—श्री वसुदेवनन्दन—को नमस्कार है। जगन्मंगलमूर्तये—जगत् अर्थात् लोकों के लिये मंगलमयी—सुख की वृद्धि करनेवाली है मूर्ति—देह जिनकी उन श्रीकृष्णको नमस्कार है ।

यद्वा कटाक्षः प्रतिभाक्षममन्तःकरणम्, तस्य किरणो वाक्यजन्यतद्वृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यम्, तेनाऽऽचान्तो भक्षितो नमतां स्वात्मप्रवणानामन्तर्मुखाणां श्रवणादिपराणां मोहोऽज्ञानमेवाब्धिरसंख्याध्यासपरम्पराकल्लोलोदयहेतुत्वादनेकानर्थदुष्टाह्यादियोगाच्च येन तस्मै,

अथवा 'कटाक्ष' का अर्थ है प्रतिभा (अलौकिकी मति) में क्षम अन्तःकरण, उसकी किरण—वाक्यजनित वृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य, उसने आचमन—भक्षण कर लिया है नमन करने वालों—अपने आत्मा की ओर झुके हुओं—अन्त-

मुखों अर्थात् श्रवणादि में तत्परों का मोह—अज्ञानसमुद्र जिन्होंने उन श्रीकृष्ण को [नमस्कार है]। अगणित अध्यास-परम्परारूप तरंगों की उत्पत्ति का कारण तथा अनेकों अनर्थ-रूप दुष्ट सर्पादि से युक्त होने के कारण अज्ञान को समुद्ररूप कहा है।

यद्वा कटाक्षोऽन्तिमप्रमाणं वाक्यजन्यवृत्तिरेव, तदनन्तरं सर्वबाधेन प्रमाणादिव्यवहाराप्रवृत्तेः 'यत्र त्वस्य—' इत्यादिश्रुतेः। अन्यत्पूर्ववत्।

अथवा अन्तिम प्रमाण-वाक्य से उत्पन्न हुई वृत्ति ही 'कटाक्ष' है, क्यों कि उसके अनन्तर सभी प्रमाणादि का बाध हो जाने से फिर प्रमाणादि के व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं होती जैसा कि 'जहां इसके लिये सब आत्मस्वरूप ही हो जाता है।' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। और सब अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये।

यद्वा कटाक्षः कटाक्षवत्प्रसृतमपरोक्षं स्वरूपचैतन्यमेव 'दिवीव चक्षुराततम्' 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः, तस्य किरणेन। शेषं पूर्ववत्। अत्र पक्षे 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्चनिर्वृत्तिवाचकः' इति कृष्णशब्दार्थो द्रष्टव्यः।

(५) अथवा कटाक्ष के समान सब ओर फैला हुआ अपरोक्ष स्वरूप चैतन्य ही 'कटाक्ष' है। इस में 'वह अपरोक्ष परमात्मा आकाशवर्तिनी चक्षुवृत्ति के समान व्याप्त है' तथा

'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् लगा लेना चाहिये। यहां एक पक्ष में 'कृष्ण' शब्द का अर्थ 'कृष् धातु सत्ता का वाचक है और ण आनन्द का' इस परिभाषा के अनुसार सच्चिदानन्द समझना चाहिये।

जगतां मङ्गलकरी मूर्तिर्यस्य तस्मै, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाति' इत्यादिश्रुतेः। जगन्मङ्गलमूर्तये इत्यनेन स्मृतिमात्रेण तस्यैहिकामुष्मिकपुरुषार्थपरिपन्थिविघ्ननिरास-सामर्थ्यमुक्तम्, मलङ्गस्य तादृशत्वात् ॥१॥

['जगन्मङ्गलमूर्तये' इसका ऐसा भी अर्थ है—] जगत् का मंगल करने वाली है मूर्ति जिनकी उन श्रीकृष्ण को। इसमें ये श्रुतियां प्रमाण हैं—'अन्य सब प्राणी इसी आनन्द स्वरूप ब्रह्म के एक अंशमात्र आनन्द से जीवन लाभ कर रहे हैं' तथा 'यह ब्रह्म ही सबको आनन्दित कर रहा है।' 'जगन्मङ्गलमूर्तये' इस वचन से श्रीकृष्ण में स्मृतिमात्र से ही इस लोक और परलोक के लिये किये जानेवाले पुरुषार्थ के विरोधी विघ्नों की निवृत्ति का सामर्थ्य भी सूचित किया गया, क्यों कि मंगल ऐसा ही (विघ्नों की निवृत्ति करनेवाला ही) हुआ करता है ॥१॥

एवमनुष्ठितस्वेष्टदेवतानमस्कारलक्षणमङ्गलनिबर्हितसकलान्तरायः प्रथमं तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तात्पर्य-

युक्तं बोधितं प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वं युक्त्या संभावयन्नाह—

इस प्रकार अपने इष्टदेव के नमस्कार रूप मङ्गल द्वारा समस्त विघ्नों के निवृत्ति हो जाने पर सबसे पहले लक्षणावृत्ति से तत्त्वमसि आदि वाक्यों द्वारा बोधित प्रत्यगात्मा और परमात्मा की एकता को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिये कहते हैं—

आत्मा की रूपता

अहमस्मि सदा भामि कदाचिन्नाहमप्रियः ।
ब्रह्मैवाहमतः सिद्धं सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ २ ॥

(अहम्) **अहंकारादि दृश्यवर्ग का साक्षी मैं** (सदा) **तीनों कालों में** (अस्मि) **सत्-स्वरूप से विराजमान हूँ । और** (सदा) **तीनों अवस्थाओं में साक्षीरूप से** (भामि) **प्रकाशमान हूँ । [दुःखादि अनर्थ प्राप्त होने पर भी]** (अहम्) **उनका साक्षी रूप मैं** (कदाचित्) **कभी** (अप्रियः) **अनिष्टरूप** (न) **नहीं** (भवामि) **होता ।** (अतः) **इसलिये** (अहम्) **मैं** (सच्चिदानन्द लक्षणम्) **सच्चिदानन्दस्वरूप** (ब्रह्म) **ब्रह्म** (एव) **ही** (सिद्धम्) **निश्चित होता हूँ ॥२॥**

अहमहंकारादिसाक्षी, अस्मि सद्रूपो भवामि, आत्मन्यध्यस्ताहंकारादेः सत्ताप्रदत्वात्; सदावस्थात्रयेऽपि भामि, जाग्रति देहेन्द्रियादिसाक्षितया स्वप्नेऽन्तःकरणवासनाप्रपञ्चसाक्षितया सुषुप्तावज्ञानसाक्षितया च प्रकाशे; कदाचित्कदाचिदपि दुःखाद्यनुभवकालेऽप्यहं नाप्रियो भवामि नानिष्टो भवामि, किं तु सदा प्रिय एव भवामि, दुःखादौ द्वेषस्यात्मस्नेहनिमित्तत्वाच्छत्रुदुःखादौ द्वेषस्यादर्शनात्, तथा च परमप्रीतिविषयत्वादानन्दरूपः ।

मैं अहंकारादि का साक्षी हूँ, अर्थात् सत्-स्वरूप हूँ, क्योंकि मैं अपने में अध्यस्त अहंकारादि को सत्ता प्रदान करनेवाला हूँ । तथा सदा—तीनों अवस्थाओं में—प्रकाशमान हूँ; जाग्रत् में देह और इन्द्रिय आदि के साक्षीरूप से, स्वप्न में अन्तःकरण की वासनाओं से कल्पित प्रपञ्च के साक्षीरूप से और सुषुप्ति में अज्ञान के साक्षीरूप से प्रकाशमान हूँ । मैं कदाचित्—दुःखादि के अनुभवकाल में भी अप्रिय अर्थात् अनिष्ट नहीं होता, किन्तु सर्वदा प्रिय ही रहता हूँ । दुःखादि में जो द्वेष है वह भी आत्मा में प्रेम होने के कारण ही है, क्योंकि शत्रु के दुःखादि में द्वेष नहीं देखा जाता । इस प्रकार परमप्रीति का विषय होने के कारण मैं आनन्दरूप ही हूँ ।

यस्मात्कालत्रयेऽप्यबाध्यमानत्वात्सद्रूपः प्रकाशमानत्वाच्चिद्रूपः परमप्रीतिविषयत्वादानन्दरूपश्च, तस्मादहं सच्चिदानन्दलक्षणं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

इस प्रकार तीनों कालों में बाधित न होने के कारण मैं सद्रूप, सर्वदा प्रकाशमान रहने के कारण चिद्रूप और परमप्रेम का विषय होने के कारण आनन्दरूप हूँ, इसलिये सत् चित् एवं आनन्दरूप लक्षणोंवाला मैं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही निश्चित होता हूँ ।

अत्रेदमनुमानं विवक्षितम्—'प्रत्यगात्मा ब्रह्मणो न भिद्यते सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ब्रह्मवत्' इति । न च हेतुरसिद्धः, 'अहमस्मि' इत्यादिना तस्य साधितत्वात् । नन्वनुमानस्य 'नाहमीश्वरः' इति प्रत्यक्षविरोध इति चेत्; न तावदात्मनो ब्रह्मत्वे बाह्यप्रत्यक्षविरोधः, आत्मनि रूपाद्यभावेन बाह्यस्य तत्राप्रवृत्तेः; नापि मानसप्रत्यक्षविरोधः, मनसो मनःसाक्षिण्यात्मनि प्रवृत्तेरसंभवात् ।

इस श्लोक में यह अनुमान बतलाना है—प्रत्यगात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है, सच्चिदानन्दरूप होने के कारण, ब्रह्म के समान। यहां सच्चिदानन्दरूप हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि 'अहमस्मि' इत्यादि वाक्य से यह सिद्ध हो चुका है। यदि कहो कि इस अनुमान का 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' इस प्रत्यक्ष ज्ञान से विरोध है—तो आत्मा के ब्रह्मरूप होने में बाह्य प्रत्यक्ष का विरोध तो है नहीं, क्योंकि आत्मा में रूपादि का अभाव होने के कारण बाह्य प्रत्यक्ष की उसमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। और न मानस प्रत्यक्ष का ही विरोध हो सकता है; कारण कि मन के साक्षी आत्मा में मन की गति होनी सम्भव ही नहीं है।

ननु 'जीवेश्वरौ भिन्नौ किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविरुद्धधर्माधारत्वाद्दहनतुहिनवत्' इत्याद्यनुमानविरोध इति चेत्; न, विरुद्धधर्मवतोर्बिम्बप्रतिबिम्बयोरुच्चमन्दशब्दाधार आकाशे च व्यभिचारात् ।

यदि कहो कि 'जीव और ईश्वर भिन्न हैं, अल्पज्ञता और सर्वज्ञता आदि विरुद्ध धर्मों के आश्रय होने के कारण, अग्नि और बर्फ के समान' इस अनुमान से तो उक्त अनुमान का विरोध है ही—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विरुद्ध धर्मवाले बिम्ब और प्रतिबिम्ब में तथा मन्द एवं तीव्र शब्दों के आधारभूत आकाश में इस हेतु का व्यभिचार देखा जाता है।

ननु 'द्वा सुपर्णा—' इत्यादिश्रुतिविरोध इति चेत् ।

शंका—**अच्छा तो 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुति से तो इसका विरोध रहेगा ही।**

न, तस्या अतत्परत्वेन 'तत्त्वमस्या'दिश्रुत्या बाध्यमानत्वात् ।

समाधान—नहीं, उसका उसमें (भेद में) **तात्पर्य नहीं है, क्योंकि 'तत्वमसि' इत्यादि श्रुति से वह बाधित हो जाती है।**

तस्मात् 'नाहमीश्वरः' इति बुद्धिर्देहाद्युपाधिनिमित्ता भ्रान्तिर्न तु शुद्धजीवस्वरूपविषया । तदुक्तम्—
'त्वयि मयि च गण्यमाने मशकान्मशकोऽहमेव देहदृशा ।
विश्वाधिकेश ते मे सद्बोधानन्दपूर्णता तुल्या ॥' इति ।
अतोऽहं ब्रह्मैवेति भावः ॥२॥

अतः 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' यह बुद्धि तो देहादि उपाधि के कारण होनेवाली भ्रान्ति ही है, यह शुद्ध जीव के स्वरूप को

विषय नहीं करती। ऐसा ही कहा भी है–'यदि देहदृष्टि को लेकर मेरी और आप की तुलना की जाय तो मैं एक मच्छर से भी तुच्छ हूँ। किन्तु हे सम्पूर्ण विश्व से भी श्रेष्ठ परमेश्वर! मेरी और तुम्हारी सच्चिदानन्दपूर्णता तो समान ही है।' इसलिये तात्पर्य यह है कि मैं ब्रह्म ही हूँ ॥२॥

आत्मा की सर्वज्ञता और सर्वकारणता

ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादिश्रुत्या हि ब्रह्म सर्वज्ञतयावगम्यते 'यतो वै–' इत्यादिश्रुत्या च सर्वजगत्कारणतया च; प्रत्यगात्मा तु स्वशरीरादिकमपि साकल्येन न जानाति; स्वातन्त्र्येण किंचित्कर्तुमपि न शक्नोति; तत्कथमस्य सर्वज्ञेन सर्वकारणेन च ब्रह्मणाभेद इत्याशङ्क्य प्रत्यगात्मनोऽपि तद्द्वयमुपपादयति––

किन्तु 'सर्वज्ञ और सब कुछ जाननेवाला है' इत्यादि श्रुति से तो ब्रह्म सर्वज्ञरूप जान पड़ता है, और 'जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं' इत्यादि श्रुति से उसका सम्पूर्ण जगत् के कारणरूप से ज्ञान होता है; परन्तु यह प्रत्यगात्मा तो अपने शरीरादि को भी पूर्णरूप से नहीं जानता और न स्वतन्त्रता से कुछ भी कर ही सकता है। ऐसी स्थिति में इसका सर्वज्ञ और सर्वकारण ब्रह्म से किस प्रकार अभेद हो सकता है? ऐसी शंका होने पर प्रत्यगात्मा में भी [सर्वज्ञता और सर्वकारणता] इन दोनों गुणों का उपपादन (तर्क द्वारा स्थापन) करते हैं––

मय्येवोदेति चिद्व्योम्नि, जगद्गन्धर्वपत्तनम्।
अतोऽहं न कथं ब्रह्म, सर्वज्ञं सर्वकारणम् ॥३॥

(चिद्व्योम्नि) **चिदाकाशरूप** (मयि एव) **मुझ प्रत्यगात्मा में ही** (जगद्गन्धर्वपत्तनम्) **जगद्रूपी गन्धर्वनगर** (उदेति) **अज्ञान से उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा है।** (अतः) **इसलिये** (अहम्) **मैं** (सर्वज्ञम्) **सर्वज्ञ** (सर्वकारणम्) **और सबका कारण** (ब्रह्म) **ब्रह्म** (कथम्) **कैसे** (न) **नहीं हूँ?** [अर्थात् अवश्य हूं] ॥३॥

चिद्व्योम्नि चिदाकाशे मयि प्रत्यगात्मन्येव जगद्गन्धर्वपत्तनं जगदेव गन्धर्वपत्तनम्, ऐन्द्रजालिकविक्षुब्धमाययाऽऽवरणावस्थायां च मेघेषु प्रतीयमानं नगरं गन्धर्वपत्तनं नाम, तादृशमिदं जगदुदेति, उत्पद्यत इत्यर्थः।

चिदाकाशस्वरूप मुझ प्रत्यगात्मा में ही यह जगद्गन्धर्वपत्तन–जगद्रूप गन्धर्वनगर उदित अर्थात् उत्पन्न होता है। इन्द्रजाली द्वारा फैलायी हुई माया से अथवा मेघों की आवरणावस्था में जो नगर-सा प्रतीत होता है उसी का नाम गन्धर्वनगर है; वैसा ही यह संसार है।

अयं भावः–मिथ्यापदार्थस्य हि द्रष्टैवोपादानम्, यथा स्वप्नप्रपञ्चस्य तत्साक्षी, तथा जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि सर्वस्य दृश्यत्वेन मिथ्यात्वात्तद्द्रष्टा प्रत्यगात्मैवोपादानमिति वक्तव्यम्। तदुक्तम्––'यथा स्वप्न-

प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः । एवं जाग्रत्प्रपञ्चश्च मयि मायाविजृम्भितः ॥ इति । एवं च प्रत्यगात्मन-स्तद्द्रष्टृत्वलक्षणं सर्वज्ञत्वं तदधिष्ठानत्वलक्षणं सर्व-कारणत्वं च सिध्यति ।

तात्पर्य यह है कि मिथ्या पदार्थ का उपादान कारण द्रष्टा ही होता है, जैसे कि स्वप्न प्रपञ्च का उपादान उसका साक्षी है । इसी प्रकार यहां कहना यह है कि दृश्य होने से मिथ्या होने के कारण सम्पूर्ण जाग्रत्प्रपञ्च का उपादान भी इसका साक्षी प्रत्यगात्मा ही है । ऐसा ही कहा भी है—'जिस प्रकार यह स्वप्नप्रपञ्च मेरे में माया से ही मालूम पड़ रहा है, उसी प्रकार यह जाग्रत्प्रपञ्च भी मुझ में माया से प्रतीत हो रहा है ।' ऐसा होने से प्रत्यगात्मा की जगत्साक्षिस्वरूप सर्वज्ञता और उसकी अधिष्ठानतारूप सर्वकारणता सिद्ध हो जाती है ।

ननु बहुदूरव्यवहितमेर्वादीनामदृश्यमानानां कथं प्रत्यगात्मा द्रष्टा कथं वा तदुपादानमिति चेत्; शृणु तर्हि रहस्यम्—'एतावन्तं काल मेर्वादिकमहं नाज्ञासिषम्' इति ह्यज्ञानविशेषणतया मेर्वादिकं स्मर्यते; तच्च स्मरणं मेर्वाद्यनुभवं विनानुपपद्यमानं सन्मेर्वाद्यनुभवं कल्पयति तत्र चेन्द्रियादीनामप्रवृत्तेः प्रत्यगात्मचैतन्येऽध्यस्ततयैव मेर्वाद्यनुभवो वक्तव्यः । अध्यस्तस्य चाधिष्ठानमेवो-पादानं तद्भानादेव भानं च भवति । तथा च प्रत्यगात्मा

स्वाध्यस्तमेर्वादेरप्यज्ञाततया साक्षी तदुपादानं च भवति । तदुक्तं ब्रह्मगीतायाम्—'ज्ञातरूपेण चाज्ञातस्व-रूपेण च साक्षिणः । सर्वं भाति तदाभाति ततस्तद्व्यापि सर्वदा ॥' इति ।

यदि कहो कि अत्यन्त दूरवर्ती और अनेकों पदार्थों से व्यवहित (ओट में आये) होने के कारण दिखायी न देनेवाले मेरु आदि का यह प्रत्यगात्मा कैसे साक्षी हो सकता है और कैसे उनका उपादान भी होना सम्भव है ? तो इसमें जो रहस्य है वह सुनो—'इतने कालतक मैंने मेरु आदि को नहीं जाना' इस प्रकार अज्ञातरूप विशेषण से युक्त मेरु आदि का स्मरण किया जाता है । वह स्मरण मेरु आदि के अनुभव बिना बन नहीं सकता, अतः वह मेरु आदि के अनुभव की कल्पना कराता है । परन्तु वहां इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति हो नहीं सकती, अतः उस मेरु आदि के अनुभव को आत्मचैतन्य में अध्यस्त-रूप से ही कहना चाहिये । और अध्यस्त का तो अधिष्ठान ही उपादान होता है और उसके भान से ही उसका भान होता है । इस प्रकार यह प्रत्यगात्मा अपने में अध्यस्त मेरु आदि का अज्ञानविशेषणतासम्बन्ध से साक्षी और उपादान भी है । यही बात ब्रह्मगीता में भी कही है—'सम्पूर्ण वस्तु ज्ञातरूप से या अज्ञातरूप से उस स्वयं भान होते हुए साक्षी से ही भासित हो रही हैं; अतः वह सर्वदा व्यापी है ।'

तथा च प्रत्यगात्मा सर्वज्ञः सर्वकारणं चेति । यत उक्तप्रकारेण सर्वकारणं चाहमतः कथं तद्रूपं ब्रह्म न

भवामि ? भवाम्येवेत्यर्थः ।।३।।

इस प्रकार प्रत्यगात्मा सर्वज्ञ और सर्वकारण भी है। और यदि उक्त प्रकारों से मैं सर्वकारण हूँ तो तद्रूप ब्रह्म क्यों नहीं हूँ ? अर्थात् निश्चय ही हूँ ।।३।।

आत्मा की अविनश्वरता

ननु 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' इत्याद्युपनिषत्सु नित्यं ब्रह्म श्रूयते, आत्मा च मरणादिधर्मकत्वादनित्य एवानुभूयते, ततश्च न तयोरैक्यमित्याशङ्क्य किमात्मनो बौद्धपक्ष इव स्वत एव नाशं ब्रवीषि, उत दण्डसंयोगाद्घटस्येवान्यसंबन्धादात्मनो नाशं ब्रवीषि, अथ वा पटनाशात्पटगतरूपादिवदाश्रयनाशान्नाशं ब्रवीषि, इति विकल्प्य—

'ब्रह्म नित्य सर्वगत और अत्यन्त सूक्ष्म है' इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में ब्रह्म नित्य सुना गया है; और आत्मा तो मरणादि धर्मवाला होने से अनित्य ही जान पड़ता है, इसलिये इन दोनों की एकता नहीं हो सकती। ऐसी शंका होने पर ये विकल्प होते हैं—क्या बौद्ध पक्ष की तरह तुम आत्मा का स्वतः ही नाश होना बतलाते हो ? या दण्ड के संयोग से घड़े के नाश की तरह किसी अन्य के सम्बन्ध से आत्मा का नाश बताते हो ? अथवा जैसे पट का नाश होने से उसके आश्रित रूपादि का नाश होता है वैसे ही आश्रय का नाश होने से आत्मा का नाश बताते हो ? ऐसे विकल्प होने पर—

न स्वतः प्रत्यभिज्ञानान्निरंशत्वान्न चान्यतः ।

न चाश्रयविनाशान्मे विनाशः स्यादनाश्रयात् ।।४।।

(मे) मेरा (विनाशः) विनाश (प्रत्यभिज्ञानात्) प्रत्यभिज्ञा होते रहने के कारण (स्वतः) स्वयं (न) नहीं (स्यात्) हो सकता (च) और (निरंशत्वात्) अंश हीन होने के कारण (अन्यतः) किसी अन्य के द्वारा (न) नहीं (स्यात्) हो सकता (च) और (अनाश्रयात्) आश्रयहीन होने के कारण (आश्रयविनाशात्) आश्रय का नाश होने से (न) नहीं (स्यात्) हो सकता।

आद्यं प्रत्याह—'न स्वतः प्रत्यभिज्ञानात्' मे, प्रत्यगात्मनो मम न स्वतो नाशो भवति। तत्र हेतुः—प्रत्यभिज्ञानात्, आत्मनः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। प्रत्यभिज्ञानं नाम पूर्वमनुभूतस्य कालान्तरे प्रमाणेन तत्तोल्लेखपूर्वकं ज्ञानम्। आत्मा हि 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एवेदानीं स्थविरे प्रणप्तॄननुभवामि', 'योऽहं सुप्तः स्वप्नमद्राक्षं स एवेदानीं जागर्मि' इति च बाल्याद्यवस्थासु जाग्रदाद्यवस्थासु च प्रत्यभिज्ञायते। तच्च प्रत्यभिज्ञानमात्मनो निर्निमित्तनाशे नोपपद्यते। तथा हि—आत्मनो हि स्वतो नाशे प्रतिक्षणमन्योऽन्य आत्मेति वक्तव्यम्। तत्र कथं वान्योऽन्येन 'सोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञायेत ? आत्मा च 'सोऽहम्' इत्यात्मानं प्रत्यभिजानाति। तस्मान्न तस्य स्वतो नाश इत्यर्थः।

इनमें से प्रथम विकल्प के विषय में कहते हैं—'न स्वतः

प्रत्यभिज्ञानात्'—मुझ प्रत्यगात्मा का स्वयं नाश नहीं होता। उसमें हेतु है—प्रत्यभिज्ञा होने के कारण; अर्थात् आत्मा की प्रत्यभिज्ञा होते रहने के कारण। प्रत्यभिज्ञा कहते हैं पहले अनुभव किये हुए पदार्थ का कालान्तर में प्रमाण द्वारा 'यह नहीं है' ऐसे उल्लेख पूर्वक ज्ञान होना। आत्मा का तो बाल्यादि अवस्थाओं में तथा जाग्रदादि अवस्थाओं में 'जिस मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया था वही मैं अब वृद्धावस्था में प्रपौत्रों का अनुभव कर रहा हूं, एवं 'जिस मैंने सो जाने पर स्वप्न देखा था वही मैं अब जाग रहा हूँ' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि [बौद्ध मतानुसार] आत्मा का बिना किसी निमित्त के नाश हो जाता तो इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता था। तात्पर्य यह कि यदि आत्मा का स्वतः नाश स्वीकार किया जाय तो कहना होगा कि प्रत्येक क्षण में और-और आत्मा होता रहता है। ऐसा होने पर अन्य आत्मा [अपने पूर्ववर्ती] अन्य आत्मा के विषय में 'मैं वही हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे कर सकेगा। किन्तु आत्मा तो 'मैं वही हूँ' इस प्रकार आत्मा के विषय में प्रत्यभिज्ञा करता ही है। अतः तात्पर्य यह कि उसका स्वतः नाश नहीं हो सकता।

न द्वितीय इत्याह——

'निरंशत्वान्न चान्यतः' निरंशत्वादंशरहितत्वान्निरवयवत्वात्, अन्यतो हेतुसंयोगादप्यात्मनो न नाश इत्यर्थः। आत्मा हि चिद्रूपत्वान्निरवयवः। यदि चिद्रूपस्यात्मनः सावयवत्वमुच्येत तर्हि वक्तव्यम्, आत्मावयवाश्चेतना अचेतना वा? नाद्यः, आत्मावयवानां हि प्रत्येकं चेतनत्वे विरुद्धाभिप्रायकतया शरीरमुन्मथ्येत। न द्वितीयः, अचेतनैरवयवैरारब्धस्यात्मनोऽप्यचेतनत्वप्रसङ्गात्; न ह्यचेतनंस्तन्तुभिरारब्धः पटश्चेतनो दृश्यते; ततो निरवयव एवात्मा; न निरवयवे चात्मनि हेतुसंयोगः संभवति, तस्यैकदेशवृत्तित्वात्। अतोऽन्यतोऽप्यात्मनो न नाश इति भावः।

दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता—इस पर कहते हैं— 'निरंशत्वान्न चान्यतः—' निरंश—अंशहीन अर्थात् निरवयव होने के कारण अन्य से यानी किसी हेतु के संयोग से भी आत्मा का नाश नहीं हो सकता। आत्मा तो चिद्रूप होने के कारण निरवयव है। यदि चिद्रूप आत्मा को सावयव कहोगे तो बताना पड़ेगा कि आत्मा के अवयव चेतन हैं या अचेतन। इनमें पहला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा का प्रत्येक अवयव चेतन होने पर तो यदि वे विरुद्ध अभिप्रायवाले हो गये तो शरीर को ही मथ डालेंगे। दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि अचेतन अवयवों के मेल से बने हुए आत्मा के भी अचेतन होने का प्रसंग उपस्थित होगा; जैसे अचेतन तन्तुओं से बना हुआ वस्त्र चेतन नहीं देखा जाता। अतः आत्मा निरवयव ही है। और निरवयव आत्मा से हेतु का संयोग होना सम्भव नहीं है, क्योंकि संयोग एक देश में ही हुआ करता है। अतः अभिप्राय यह कि अन्य के द्वारा भी आत्मा का नाश नहीं हो सकता।

नापि तृतीय इत्याह—

'न चाश्रयविनाशान्मे विनाशः स्यादनाश्रयात्।' आश्रयविनाशादाधारविनाशादपि मे मम विनाशो न स्यात्। कुतः ? अनाश्रयात्, आश्रयस्याधारस्याभावात्। आत्मा हि गुणक्रियाजात्याद्यन्यतमत्वाभावादनाश्रयः, निरवयवत्वाच्च नापि घटवदाश्रयः। अत आश्रयनाशादप्यात्मनो न नाशः।

तीसरा विकल्प भी नहीं ठहरता—इस पर कहते हैं—'न चाश्रयविनाशान्मे विनाशः स्यादनाश्रयात्।' **आश्रय अर्थात् आधार के विनाश से भी मेरा नाश नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता ?—अनाश्रय होने के कारण अर्थात् आत्मा के आश्रय–आधार का अभाव होने के कारण आत्मा में गुण, क्रिया, जाति आदि में से कोई भी न होने के कारण वह अनाश्रय है। तथा निरवयव होने के कारण उसका घट की तरह भी कोई आश्रय नहीं है। इसलिये आश्रय के नाश से भी आत्मा का नाश नहीं हो सकता।**

आत्मनो मरणादिप्रतीतिस्तु देहाद्युपाधिकृता। तदुक्तं सूत्रकृता–'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्' इति। अस्य चार्थो विद्यारण्यगुरुभिरधिकरणरत्नमालायां दर्शितः—'जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वाऽऽत्मनो हि ते। जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा॥' इति पूर्वपक्षे प्राप्ते, सिद्धान्तमाह—'मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि, जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेति शास्त्रतः॥' इति।

आत्मा में जो मरणादि प्रतीति है वह तो देहादि उपाधि के कारण है। यह बात सूत्रकार (भगवान् व्यास ने) भी कही है—'चराचर व्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्'*(ब्र० सू० ३ २।१६) **इस सूत्र का अर्थ गुरुवर श्री विद्यारण्य स्वामी ने अधिकरण रत्नमाला में इस प्रकार दिखाया है—'जन्म-मरण जीव के हैं या शरीर के ? [इस पर पूर्वपक्षी कहता है–] 'जन्म-मरण आत्मा के ही होते हैं, क्योंकि यही कहा जाता है कि मेरे पुत्र हुआ और उसके जातकर्मादि संस्कारों से भी यही सिद्ध होता है।' ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है–'जन्म-मरण मुख्यरूप से तो शरीर के ही होते हैं, गौणरूप से जीव के कहे जाते हैं। और इसी दृष्टि से जीव के जातकर्मादि किये जाते हैं तथा लोक में 'जीव उत्पन्न हुआ या मरा' ऐसा कहा जाता है। यह बात 'जीव को छोड़कर शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता' इस शास्त्र वचन से भी प्रमाणित होती है।'**

ततस्त्रिविधनाशाभावान्नित्य एवात्मेति तस्य ब्रह्मणाभेदः सम्यग्घटत इति भावः॥४॥

इस प्रकार तीनों तरह के नाश का अभाव होने से आत्मा

*जन्म-मरणादि स्थावर-जंगम शरीरों के ही आश्रित हैं, जीव में उनका व्यपदेश गौणरूप से होता है, क्यों कि वह उनके भाव से भावित रहता है।

नित्य ही है और ब्रह्म के साथ उसका अभेद भी सम्यक् प्रकार से सिद्ध हो जाता है–ऐसा इसका भाव है ॥४॥

हेतुसंयोगादात्मनो न नाश इति द्वितीयं पक्षं प्रपञ्चयति–

हेतु के संयोग से आत्मा का नाश नहीं हो सकता– इस द्वितीय पक्ष को विस्तार से बतलाते हैं—

न शोषप्लोषविक्लेदच्छेदाश्चिन्नभसो मम ।
सत्यैरप्यनिलाग्न्यम्भःशस्त्रैः किमुत कल्पितैः ॥५॥

(चिन्नभसः) **चिदाकाशस्वरूप** (मम) **मेरे** (शोषप्लोषविक्लेदच्छेदाः) **शोषण, दहन, क्लेदन** (भिगोया जाना) **और छेदन,** (सत्यैः अपि) **व्यावहारिक सत्तावाले भी** (अनिलाग्न्यम्भःशस्त्रैः) **वायु, अग्नि, जल एवं शस्त्रों द्वारा** (न) **नहीं किये जा सकते;** (उत) **तो फिर** (कल्पितैः) **कल्पित वायु आदि के द्वारा** (किम्) **कैसे हो सकते हैं ? ॥५॥**

चिन्नभसश्चिदाकाशस्य ममात्मनोऽनिलेन वायुना न शोषः शोषणं पत्रफलादेरिव भवति, नाप्यग्निना प्लोषो दाहः पटादेरिव भवति, नाप्यम्भसा जलेन सस्यादेरिव विक्लेदः क्लेदनं भवति, नापि शस्त्रेणायुधेनेक्षुदण्डादेरिव च्छेदो द्वैधीभावो भवति, आकाशस्येवात्मनो निरवयवत्वेन वाय्वादिभिः संबन्धाभावादित्यर्थः ।

चिदाकाशस्वरूप मुझ आत्मा का अनिल–वायु के द्वारा पत्ते एवं फलादि की तरह शोषण नहीं हो सकता, न वस्त्रादि की तरह अग्नि द्वारा प्लोष–दाह ही हो सकता है, न अनाज आदि की तरह जल से विक्लेद-क्लेदन ही हो सकता है और न गन्ना आदि की भांति शस्त्र यानी औजारों से छेदन–टुकड़े ही हो सकते हैं; क्योंकि आत्मा आकाश के समान निरवयव है, अतः इन वायु आदि के साथ उसका संग नहीं हो सकता–ऐसा इसका तात्पर्य है ।

व्यावहारिकसत्यस्य भूताकाशस्यैव हि निरवयवत्वेनासङ्गत्वादाकाशतुल्यसत्यैरप्यनिलादिभिः शोषादयो न भवन्ति, आत्मनि मायाकल्पितत्वेन मिथ्याभूतैर्वाय्वादिभिर्वस्तुतोऽद्वितीयस्यासङ्गस्यात्मनः शोषादयो न संभवन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । तदुक्तं भगवता—'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥' (गीता २।२४) इति ॥५॥

अभिप्राय यह है कि जब व्यावहारिक सत्य भूताकाशका ही निरवय होने से असंग होने के कारण अपने ही समान [व्यावहारिक] सत्य वायु आदि से शोषण आदि नहीं होते तो इसमें तो कहना ही क्या है कि पारमार्थिक सत्य अद्वितीय आत्मा के अपने में माया से कल्पित मिथ्या वायु आदि से शोषणादि होने सम्भव नहीं हैं । यही भगवान् ने भी कहा है–'वह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्व-

गत, स्थिरस्वभाव, अचल और सनातन हैं' ॥५॥

ननु प्रत्यगात्मा परिच्छिन्न एवानुभूयते, 'अहमिहास्मि' इति प्रतीतेः; ब्रह्म च सर्वगतम्, 'नित्यं विभुम्' इत्यादि श्रुतेः; अतो नायं ब्रह्मेत्याशङ्क्य, आत्मनः सर्वगतत्वं युक्त्या संभावयन्नाह——

आत्मा का सर्वगतत्व

किन्तु यह प्रत्यगात्मा तो सबको परिच्छिन्न ही अनुभव होता है, क्योंकि मैं यहां (इस घर में) हूँ ऐसी प्रतीति होती है और 'नित्यं विभुम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार ब्रह्म सर्वगत है, इसलिये यह ब्रह्म नहीं हो सकता—ऐसी आशंका करके आत्मा के सर्वगतत्व को युक्ति द्वारा सिद्ध करने के लिये कहते हैं—

अभारूपस्य विश्वस्य भानं भासंनिधेर्विना ।
कदाचिन्नावकल्पेत भा चाहं तेन सर्वगः ॥६॥

(अभारूपस्य) **स्वतः अप्रकाशरूप** (विश्वस्य) **विश्व का** (भानम्) **भान** (भासंनिधेः) **प्रकाश के भण्डार चेतनघन के** (विना) **विना** (कदाचित्) **कभी** (न अवकल्पेत) **सम्भव नहीं है।** (भा च) **और प्रकाश तो** (अहम्) **मैं ही हूँ** (तेन) **इसलिये** (सर्वगः) **सर्वगत भी हूँ ॥६॥**

अभारूपस्याचिद्रूपस्य, जडस्येत्यर्थः; विश्वस्य जगतो भानं प्रकाशो भासंनिधेर्विना भासंनिधिं विना, चैतन्यसंबन्धं विनेत्यर्थः; कदाचित्कदाचिदपि नावकल्पेत न संभवेत्। भा चैतन्यरूपश्चाहं प्रत्यगात्मा। तेन जडसर्वप्रपञ्चभासकत्वेन प्रत्यगात्मा सर्वगः, सर्वगतो भवामीत्यर्थः।

अभारूप—अचिद्रूप अर्थात् जड़ विश्व-जगत् का भान—प्रकाश भासंनिधि के बिना अर्थात् चैतन्य का सम्बन्ध हुए बिना कदाचित्—किसी भी अवस्था में—होना सम्भव नहीं है। और भा अर्थात् चैतन्यस्वरूप तो मैं प्रत्यगात्मा ही हूँ। अतः सम्पूर्ण जड़ प्रपञ्च का भासक होने से यह प्रत्यगात्मा सर्वगत है। अर्थात् मैं सर्वव्यापी हूँ।

बहुयोजनदूरवर्ति चन्द्रसूर्यमण्डलं ततोऽप्यतिदूरवर्ति ध्रुवादि नक्षत्राणि च प्रत्यगात्मनो भासन्ते। तच्च भानं जडानां तेषां स्वतो न संभवति, किं तु स्वप्रकाशरूपात्मचैतन्यसंबन्धबलेनैव तद्वक्तव्यम्, स्वतोऽप्रकाशस्य घटादेः स्वप्रकाशदीपादिसंबन्धबलेनैव प्रकाशदर्शनात्। यदि प्रत्यगात्मात्रैव तिष्ठेत्कथं ध्रुवादिना संबध्येत? ततो ध्रुवादि भासकत्वात्प्रत्यगात्मा सर्वगतः। परिच्छिन्नताप्रतीतिश्च आत्मनोऽभिव्यञ्जकोपाधिपरिच्छेदाद्भ्रान्त्योपपद्यते।

अनेकों योजन की दूरी पर स्थित चन्द्रमा एवं सूर्य तथा उनसे भी अत्यन्त दूरवर्ती ध्रुव आदि नक्षत्र प्रत्यगात्मा से ही प्रकाशित हो रहे हैं। वे जड़ हैं, अतः अपने से तो उनका प्रकाशन होना सम्भव नहीं है। अतः उसे स्वयंप्रकाश आत्म-

चैतन्य के सम्बन्ध द्वारा ही कहना होगा। जैसे कि स्वयं प्रकाशहीन घटादि का प्रकाश स्वप्रकाश दीपक आदि के सम्बन्ध से ही देखा जाता है। यदि प्रत्यगात्मा केवल यहीं रहता तो ध्रुवादि के साथ उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता था? इसलिये ध्रुवादि का प्रकाशक होने के कारण प्रत्यगात्मा सर्वगत है। आत्मा की परिछिन्नता की प्रतीति तो भ्रान्तिवश इसे अभिव्यक्त करने वाली शरीररूप उपाधि के परिच्छेद के कारण भी बन सकती है।

तदुक्तं ब्रह्मगीतायाम्—'स्वयं भातुमशक्तं हि जडात्मकमिदं जगत्। चित्संबन्धबलेनैव खलु भाति न चान्यथा॥ स्वाभिव्यञ्जकसंकोचात्संकोचप्रतिभात्मनः। न स्वरूपेण चिद्रूपः सर्वव्यापी सदा खलु।' इति। ततो जीवात्मा ब्रह्मैवेति भावः॥६॥

यही बात ब्रह्म गीता में भी कही है—'यह जड़ जगत् अपने भान में असमर्थ है; अतः निश्चय ही यह चेतन के सम्बन्ध से ही प्रकाशित होता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। अपने को अभिव्यक्त करने वाली इस उपाधि के संकोच के कारण ही इस चिदात्मा का संकोच है, स्वरूप से नहीं। स्वरूप से तो सर्वदा यह चेतनस्वरूप 'सर्वव्यापक ही है।' अतः तात्पर्य यह कि जीवात्मा ब्रह्म ही है॥६॥

ननु जीवस्य ब्रह्माभेदोऽसंगतः, ब्रह्मण एवासिद्धेः; देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं वस्तु हि ब्रह्मोच्यते; न च

तत्संभवति, कालाकाशादेर्द्वितीयस्य विद्यमानत्वेन वस्तुपरिच्छेदाभावस्यासिद्धेः; न चाकाशादेर्ब्रह्मण्यारोपितत्वेन मिथ्यात्वात्तेन तस्य न सद्वितीयत्वमिति वाच्यम्, आकाशादेरध्यस्तत्वे मानाभावात्; न च 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुतिस्तत्र मानमिति वाच्यम्, तत्राकाशादेर्ब्रह्मकार्यतामात्रप्रतीतेः।

चेतन की अद्वितीयता

शंका—जीव का ब्रह्म के साथ अभेद होना तो असंगत है, क्योंकि ब्रह्म की ही सिद्धि नहीं हो सकती। देश, काल एवं वस्तु के परिच्छेद से शून्य वस्तु को ही तो ब्रह्म कहते हैं; किन्तु ऐसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। काल और आकाश आदि द्वैत के रहते हुए वस्तुजनित परिच्छेद का अभाव सिद्ध ही नहीं होता। ऐसा कहना भी ठीक नहीं कि आकाशादि ब्रह्म में आरोपित होने के कारण मिथ्या हैं; अतः उनके द्वारा ब्रह्म सद्वितीय नहीं हो सकता, क्योंकि आकाशादि के अध्यस्त होने में कोई प्रमाण नहीं है। 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' यह श्रुति इसमें प्रमाण है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तो केवल इतना ही प्रतीत होता है कि ये आकाशादि ब्रह्म के कार्य हैं।

इत्याशङ्क्य ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वसिद्धय आकाशादेरध्यस्तत्वं साधयति—

ऐसी आशंका करके अब ब्रह्म की अद्वितीयता सिद्ध करने

के लिए आकाशादि की अध्यस्तता सिद्ध करते हैं—

न हि भानादृते सत्त्वं नर्ते भानं चितोचितः।
चित्संभेदोपि नाध्यासादृते तेनाहमद्वयः ॥७॥

(भानात् ऋते) **प्रकाश के बिना** [**किसी भी पदार्थ की**] (सत्त्वम्) **सत्ता सिद्ध नहीं होती। और** (चितः ऋते) **चेतन के बिना** (अचितः) **अचेतन का** (भानम्) **प्रकाश** (न) **नहीं हो सकता। तथा** (चित्संभेदः) **अचेतन के साथ चेतन का सम्बन्ध** (अपि) **भी** (अध्यासात् ऋते) **अध्यास के बिना** (न) **नहीं हो सकता।** (तेन) **अतः** (अहम्) **मैं** (अद्वयः) **अद्वितीय हूँ ॥७॥**

भानादृते प्रकाशं विना पदार्थस्य सत्त्वं सद्भावो नास्ति, अप्रकाशमानशशविषाणादेः सत्त्वादर्शनादित्यर्थः। ततः किम्? तत्राह—नर्त इत्यादिना। अचितो जडस्य चित ऋते चैतन्यस्य संबन्धं विना भानं प्रकाशो नास्ति, स्वतो भानवत्त्वे जडत्वाभावप्रसङ्गादित्यर्थः। ततोऽपि किम्? तत्राह—चित्संभेद इत्यादिना। चिसंत्भेदोऽपि चैतन्यसंबन्धोऽप्यध्यासादृते चित्यारोपितत्वं विना जडस्य न संभवतीत्यर्थः।

भान अर्थात् प्रकाश के बिना पदार्थ की सत्ता अर्थात् सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जिनका कभी प्रकाश नहीं होता उन शशशृंगादि की सत्ता भी नहीं देखी जाती—ऐसा इसका अभिप्राय है। इससे क्या सिद्ध हुआ, इस पर

कहते हैं—'नर्ते' इत्यादि। अचित् अर्थात् जड़ का चेतन के बिना—चेतन से सम्बन्ध हुए बिना प्रकाश नहीं होता। तात्पर्य यह कि यदि उसे स्वयं प्रकाशवाला माना जाय तो उसके जड़ न रहने का प्रसंग उपस्थित होगा। अच्छा तो इससे भी क्या हुआ? इस पर कहते हैं—'चित्संभेदोऽपि' इत्यादि। चित्संभेद अर्थात् जड़के साथ चेतन का सम्बन्ध भी अध्यास के बिना—चेतन में आरोप किये बिना—नहीं बन सकता—ऐसा इसका तात्पर्य है।

अयं भावः—चिज्जडयोराध्यासिकसंबन्धातिरिक्तं संबन्धं वदन्वादी प्रष्टव्यः, किं तयोः संबन्धः संयोगः, उत समवायः, अथ तादात्म्यम्, अथ वा विषयविषयिभाव इति। नाद्यः, चितोऽद्रव्यत्वेन संयोगानुपपत्तेर्गुणाश्रयस्यैव द्रव्यत्वाच्चितो निर्गुणत्वात्। नापि समवायः, चिज्जडयोर्गुणगुण्यादिष्वन्यतमत्वाभावात्। 'ननु चिज्जडयोः कार्यकारणभावात्तन्तुपटयोरिव समवायोऽस्त्विति चेत्; न, तन्तुपटयोः समवायेऽवयवावयविताया एव प्रयोजकत्वेन कार्यकारणभावस्याप्रयोजकत्वात् अन्यथा तुरीपटयोरपि समवायप्रसङ्गात्, अवयवावयवितायाश्च दृग्दृश्ययोरभावात्।

भाव यह कि जो वादी जड़ और चेतन का आध्यासिक सम्बन्ध से अतिरिक्त कोई दूसरा सम्बन्ध बतलाता है उससे यह पूछना चाहिये कि इनका सम्बन्ध संयोग है, समवाय है, तादात्म्य है अथवा विषय-विषयी भाव है? इनमें पहला तो

बन नहीं सकता, क्योंकि चेतन कोई द्रव्य नहीं है अतः उसका किसी के साथ संयोग नहीं हो सकता; कारण कि जो गुण का आश्रय होता है वही द्रव्य होता है और चेतन निर्गुण है। इनका समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि जड़-चेतन में गुण-गुणी आदि में से कोई भाव* नहीं है। यदि कहो कि जड़ और चेतन का कार्य-कारण भाव होने के कारण पट और तन्तु के समान उनका समवाय सम्बन्ध हो सकता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तन्तु और पटके समवाय में तो उनका अवयव-अवयवी भाव ही प्रयोजक है, कार्य-कारण भाव प्रयोजक नहीं है। यदि ऐसा न हो तो तुरी और पटका भी समवाय सम्बन्ध मानना पड़ेगा;‡ और द्रष्टा (चेतन) एवं दृश्य (जड़) में यह अवयव-अवयवी भाव है नहीं।†

नापि तादात्म्यम्, परस्परविलक्षणयोस्तयोस्तादात्म्यासंभवात्। नापि विषयविषयिभावः, तस्य मूलसंबन्धपूर्वकत्वात्, तदसंभवस्य चोक्तत्वात् अन्यथातिप्रसङ्गात्। तदुक्तं सर्वज्ञातममुनिभिः—'न संकरो नापि च संयुतिस्तयोर्न चास्ति तद्वत्समवायसंभवः। अतो न चिच्चैत्यसमन्वयं प्रति प्रतीयते काचन मूलसंगतिः॥' इति। ततस्तयोराध्यासिक एव संबन्ध इति वाच्यम्।

* समवाय सम्बन्ध उन्हीं में होता है जिनमें गुण-गुणी, कार्य-कारण अथवा अंश-अंशी भाव होता है।

‡ क्योंकि तुरी भी पटका निमित्त कारण तो है ही।

† अतः इन दोनों का समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता।

इन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। ये दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं, अतः इनका तादात्म्य होना असम्भव है। इसी प्रकार इनका विषय-विषयिभाव भी असम्भव है, क्योंकि ऐसा तभी होता है जब उनमें पहले कोई मूल सम्बन्ध हो। और मूल सम्बन्ध का अभाव पहले कहा ही जा चुका है। यदि उसके बिना भी इनका कोई सम्बन्ध माना जाय तो सब गड़बड़ हो जायगा। यही बात श्री सर्वज्ञात्म मुनि ने भी कही है—'द्रष्टा और दृश्य का न तो तादात्म्य है, न संयोग है और न समवाय ही सम्भव है। अतः इनका समन्वय (सम्बन्ध) मानने के लिये किसी प्रकार का भी मूल सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।' इसलिये इनका आध्यासिक सम्बन्ध ही कहना होगा।

तथा च जडपदार्थभानान्यथानुपपत्तिरेवाकाशादेरध्यस्तत्वे प्रमाणम्। तदपि तैरेवोक्तम्—

'ततो वियन्मुख्यमदो जगज्जडं,
चिदात्मनोऽस्यैव विवर्त इष्यताम्।
अनाद्यविद्यापटसंवृतात्मन-
स्तदोपलभ्यत्वममुष्य कल्प्यते॥' इति।

इस प्रकार जड पदार्थ के भान की अन्य कोई उपपत्ति न होना ही आकाशादि की अध्यस्तता में प्रमाण है। यह बात भी श्री सर्वज्ञातममुनि ने ही कही है—'अतः आकाशादिरूप इस जड जगत् को अनादि अविद्यारूप पट से आवृत उस चिदात्मा का ही विवर्त मानना चाहिये। तभी यह उसका दृश्य हो सकता है।'

तेनाकाशादेरध्यस्तत्वेन, अहं प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, अद्वयः अद्वितीय इत्यर्थः । ततश्च ब्रह्मणो वस्तुपरिच्छेदाभावेन त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । तदुक्तं विद्यारण्यगुरुभिः पञ्चकोशविवेके—
'देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया । न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ।।' इति ।।७।।

इस तरह आकाशादि अध्यस्त होने के कारण प्रत्यगात्मा से अभिन्न मैं परमात्मा अद्वय हूँ, अर्थात् मुझसे भिन्न कोई दूसरा नहीं हैं । इसलिये वस्तु परिच्छेद का अभाव होने के कारण इससे ब्रह्म की त्रिविधपरिच्छेदशून्यता सिद्ध हो जाती है । पञ्चकोशविवेक में गुरुवर विद्यारण्यस्वामी ने कहा भी है—'देश, काल तथा अन्य वस्तुएं माया से कल्पित हैं; अतः देशादि का किया हुआ कोई परिच्छेद न होने के कारण ब्रह्म की अनन्तता स्पष्ट ही है' ।।७।।

देहादि की अनातमता

ननु 'स्थूलोऽहम् कृशोऽहम्', 'काणोऽहम्', 'बधिरोऽहम्', 'मूकोऽहम्', बुभुक्षितोऽहम्, पिपासितोऽहम्', 'मन्ताहम्', 'निश्चितोऽहम्' इति देहादिरूपेणानुभूयमानस्य प्रतीचः कथं चिदेकरसब्रह्मतेत्याशङ्क्य देहादीनामनात्मत्वं प्रत्येकं साधयति——

'मैं स्थूल हूँ' 'कृश हूँ' 'काना हूँ' 'बहिरा हूँ' 'गूंगा हूँ' 'भूखा हूँ' 'प्यासा हूँ' 'मनन करनेवाला हूँ' 'निश्चित हूँ' इत्यादि अनुभवों से देहरूप प्रतीत होने वाले प्रत्यगात्मा की भला चिदेकरसस्वरूप ब्रह्म से कैसे एकता हो सकती है ? ऐसी शंका करके देहादि में से प्रत्येक की अनात्मता सिद्ध करते हैं—

न देहो नेन्द्रियं चाहं न प्राणो न मनो न धीः ।
ममतापरिरब्धत्वादाक्रीडत्वादिदं धियः ।।८।।

(अहम्) **मैं** (ममता परिरब्धत्वात्) **ममता से आक्रान्त होने के कारण तथा** (इदं धियः) **इदं बुद्धि के*** (आक्रीडत्वात्) **लीलास्थान होने के कारण** (देहः न) **देह नहीं हूँ,** (इन्द्रियं न) **इन्द्रिय नहीं हूँ,** (प्राणः न) **प्राण नहीं हूँ,** (मनः न) **मन नहीं हूँ और** (धीः न) **बुद्धि नहीं हूँ ।।८।।**

देहः सशिरस्कः पिण्डः । इन्द्रियं द्विविधं ज्ञानसाधनं चक्षुरादि कर्मसाधनं पाण्यादि च । प्राणः पञ्चवृत्तिः । मनः संशयात्मकम् । धीर्बुद्धिर्निश्चयात्मिका । अहं शब्दस्य देहादिभिः प्रत्येकं संबन्धः । एते देहादयो बुद्धिपर्यन्ताः पञ्चापि पदार्था अनात्मान इत्यर्थः । कुत इत्यत आह——ममतेत्यादिना । ममतापरिरब्धत्वात्, ममतया ममेति बुद्ध्या परिरब्धत्वादालिङ्गितत्वात्, विषयीकृतत्वादिति यावत् । इदंधियः इदंबुद्धेः आक्रीडत्वाल्लीलास्थानत्वात्, इदंबुद्धिविषयत्वादित्यर्थः ।

देह कहते हैं शिरसहित पिण्ड को । इन्द्रिय दो प्रकार की हैं—ज्ञान की साधन नेत्रादि तथा कर्म की साधन हस्तादि ।

* इदंबुद्धि='यह' ऐसी बुद्धि ।

प्राण पांच वृत्तियों वाला है। मन संशयात्मक है और बुद्धि निश्चयात्मिका होती है। यहां अहं (मैं) शब्द का इन देहादि में से प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। तात्पर्य यह कि देह से लेकर बुद्धिपर्यन्त ये पांचों पदार्थ अनात्म हैं। क्यों हैं? इस पर कहते हैं—'ममता से परिरब्ध होने के कारण'—; ममता अर्थात् 'मेरा' इस बुद्धि—से परिरब्ध—आलिङ्गित अर्थात् विषय किये जाने के कारण। तथा इदंबुद्धि के आक्रीड—लीलास्थान होने के कारण अर्थात् इदं बुद्धि के विषय होने के कारण।

अत्रेदमनुमानं विवक्षितम्——'देहादयः प्रत्येकमनात्मानो ममताबुद्धिविषयत्वादिदंबुद्धिविषयत्वाच्च घटादिवत्' इति। देहोऽनात्मा रूपादिमत्त्वाद् घटवत्'; 'इन्द्रियाण्यनात्मानः करणत्वात्कुठारवत्'; 'प्राणोऽनात्मा वायुत्वाद्बाह्यवायुवत्'।

यहां इस प्रकार के अनुमान बतलाते हैं—'देहादि प्रत्येक अनात्मा है, ममता बुद्धि और इदंबुद्धि के विषय होने के कारण, घटादि के समान।' 'देह अनात्मा है, रूपादिवाला होने से, घट के समान।' 'इन्द्रियां अनात्मा हैं, करण होने के कारण, कुठार की तरह।' 'प्राण अनात्मा है, वायुरूप होने से, बाह्य वायु की तरह।'

'देहोऽहम्' इत्यादिप्रतीत्यभावाच्चानात्मत्वं पञ्चानाम्; 'कृशोऽहम्' इत्यादिप्रतीतिस्तु 'रक्तः स्फटिकः' इत्यादिप्रतीतिवदात्मनि देहादिधर्माध्यासादप्युपपद्यते;

नापि तत्संघातस्याप्यात्मत्वम्; अनात्मसमुदायस्तत्संघातोऽपि नात्मा, अनात्मत्वात्, गृहादिवदिति भावः ॥८॥

इसके सिवा 'मैं देह हूँ' ऐसी प्रतीति का अभाव होने के कारण भी इन पांचों की अनात्मता है। 'मैं कृश हूँ' इत्यादि प्रतीति तो 'स्फटिक लाल है' इत्यादि प्रतीति के समान आत्मा में देहादि के धर्मों का अध्यास होने से भी बन सकती है। तथा इन सबका संघात भी आत्मा नहीं हो सकता। अनात्माओं का समुदाय ही इनका संघात है, अतः अनात्मा होने के कारण वह भी आत्मा नहीं हो सकता, गृह आदि के समान—ऐसा इसका भाव है ॥८॥

अहंकार आत्मा नहीं

नन्वहंकारस्यात्मत्वमस्तु तस्य ममेदंबुद्धिविषयत्वाभावादिशङ्क्य, सुषुप्त्यादावात्मनि विद्यमानेऽप्यहंकाराभावान्न तयोरैक्यमित्यभिप्रेत्य प्रकारान्तरेण तयोर्भेदं साधयति——

'अहंकार तो आत्मा हो ही सकता है, क्यों कि वह तो ममबुद्धि या इदंबुद्धि का विषय नहीं है'—ऐसी शंका करके 'सुषुप्ति आदि में आत्मा के रहने पर भी अहंकार नहीं रहता, इसलिये इन दोनों की एकता नहीं हो सकती' इस अभिप्राय को लेकर एक दूसरे प्रकार से उनका भेद सिद्ध करते हैं—

साक्षी सर्वान्वितः प्रेयानहं नाहं कदाचन।
परिणामपरिच्छेदपरितापैरुपप्लवात ॥९॥

(साक्षी) सब का द्रष्टा (सर्वान्वितः) सब में अनुस्यूत और (प्रेयान्) परम प्रेम का विषय होने से आनन्दरूप (अहम्) मैं प्रत्यगात्मा (कदाचन) कभी (अहम्) अहंकार (न) नहीं हो सकता; (परिणामपरिच्छेदपरितापैः) परिणाम, परिच्छेद और दुःखादि से (उपप्लवात्) सम्बद्ध होने के कारण ॥६॥

साक्षी चिद्रूपोऽन्तःकरणपरिणामरागद्वेषादिद्रष्टा. सर्वान्वितः सर्वत्र घटपटादिष्वन्वितः 'घटः स्फुरति' 'पटः स्फुरति' इति स्फुरणस्य सर्वत्रानुगतत्वेनानुभवात्, प्रेयान्प्रियतम आनन्दरूपः, तस्यैव प्रेयस्त्वात्, अनुभूयते ह्यात्मनः प्रियतमत्वम् 'अहं सर्वदा भूयासं न कदाचिन्मा भूवम्' इत्यात्मनि सर्वेषां प्रार्थनादर्शनादित्यर्थः। एवंभूतोऽहं प्रत्यगात्मा कदाचन कदाचिदपि नाहम्, नाहंकारो भवामीत्यर्थः।

साक्षी—चित्स्वरूप अर्थात् अन्तःकरण के परिणाम राग-द्वेषादि का द्रष्टा। सर्वान्वित—घट-पट आदि सभी में अन्वित, क्यों कि 'घट स्फुटित होता है,' 'पट स्फुटित होता है' इत्यादि रूप से स्फुरण का सर्वत्र अनुगतरूप से अनुभव होता है। प्रेयान्—प्रियतम अर्थात् आनन्दरूप, क्योंकि वही सबसे अधिक प्रिय है। 'मैं सर्वदा रहूँ, न रहूँ' 'ऐसा कभी न हो' ऐसी सभी की अपने लिये प्रार्थना देखी जाती है, इससे आत्मा की प्रियतमता का अनुभव होता है। इस प्रकार का मैं प्रत्यगात्मा कदाचन—कभी अहं—अहंकार नहीं हो सकता—ऐसा इसका

अभिप्राय है।

तत्र हेतुमाह—परिणामेत्यादिना। अहंकारस्य परिणामपरिच्छेदपरितापैः, परिणामो रागद्वेषादिपरिणामः, परिच्छेदः परिमितत्वम्, परितापो दुःखादिः, एतैस्त्रिभिरुपप्लवः संबन्धस्तस्मादित्यर्थः। द्रष्टृदृश्यभावेन सर्वगतत्वपरिच्छिन्नत्वाद्याकारेणानन्दरूपित्वदुःखित्वाकारेण चानुभूयमानत्वादहंकारात्मनोर्भेदः स्फुट इत्यर्थः। किमिति तर्हि तयोर्भेदः सर्वैर्नानुभूयत इति चेत्, अहंकारात्मनोस्तप्तायःपिण्डवदविविक्तेन दृढमेकतयाध्यसनान्नानुभूयत इति गृहाणेत्यभिप्रायः ॥६॥

इसमें हेतु बतलाते हैं—क्योंकि अहंकार परिणाम, परिच्छेद और परितापों से उपप्लुत है। अर्थात् परिणाम—राग-द्वेषादि रूप परिणाम, परिच्छेद—परिमित (सीमा बद्ध) होना और परिताप—दुःखादि इन तीनों से उपप्लुत—संबद्ध है, इसलिये यह आत्मा नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि आत्मा और अहंकार क्रमशः द्रष्टा और दृश्य भाव से, सर्वगत और परिच्छिन्न रूप से तथा आनन्दमय एवं दुःखिस्वरूप से अनुभव में आते हैं, अतः इनका भेद सर्वथा स्पष्ट है। यदि कहो कि तो फिर इनका भेद सभी के द्वारा अनुभव क्यों नहीं किया जाता ? तो इसका रहस्य यह है कि तपाये हुए लोहपिण्ड की तरह आत्मा और अहंकार का दृढ़रूप से एकता का अध्यास होने के

कारण अविवेक हो रहा है, इसी से दोनों का पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं होता—ऐसा जानो ॥९॥

आत्मा की शुद्धता

नन्वेवमपि संसारिण आत्मनः कथं नित्यमुक्त-ब्रह्मता? न च संसारोऽहंकारस्यैव नात्मन इति वाच्यम्, आत्माहंकारोभयसंनिधाने प्रतीयमानस्य संसारस्याहंकारैकसंबन्धित्वे मानाभावात् ।

शंका—ऐसा होने पर भी संसारी आत्मा की नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूपता कैसे? ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि संसार तो अहंकार में ही है, आत्मा में नहीं; क्यों कि आत्मा और अहंकार दोनों ही की सन्निधि में प्रतीत होने वाले संसार को एकमात्र अहंकार का सम्बन्धी मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

इत्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकावेव तत्र मानमित्याह—

ऐसी शंका होने पर यह बतलाते हैं कि इसमें अन्वय-व्यतिरेक ही प्रमाण हैं—

सुप्तेऽहमि न दृश्यन्ते दुःखदोषप्रवृत्तयः ।
अतस्तस्यैव संसारो न मे संसर्तृसाक्षिणः ॥१०॥

(अहमि) अहंकार के (सुप्ते) उपरत हो जाने पर (दुःखदोषप्रवृत्तयः) दुःख, दोष और प्रवृत्तियां (न) नहीं (दृश्यन्ते) देखी जातीं। (अतः) इसलिये (तस्य एव) उस अहंकार का ही (संसारः) संसार है, (संसर्तृसाक्षिणः) संसार को प्राप्त होने वाले अहंकार के साक्षी (मे) मुझ में (न) संसार नहीं है ॥१०॥

अहम्यहंकारे सुप्त उपरते सति सुषुप्तिमूर्च्छयोः, दुःखदोषप्रवृत्तयः, दुःखं च दोषा रागादयश्च तत्कार्यभूता प्रवृत्तिश्च दुःखदोषप्रवृत्तयः, ता न दृश्यन्ते यतः अतस्तस्यैवाहंकारस्य संसारः, संसर्तृसाक्षिणः संसर्तुरहंकारस्य साक्षिणो मे मम प्रत्यगात्मनो न संसार इत्यर्थः। अहंकारे सति, जाग्रत्स्वप्नयोः संसारदर्शनात्तदभावे च सुषुप्त्यादौ केवल आत्मनि संसारादर्शनादहंकारसंबन्ध्येव संसार आत्मन्यपि तदविवेकात्प्रतीयते, यथा दाहकत्वमग्निसंबन्ध्येव सत्तदविवेकादयस्यपि प्रतीयते यथा वा रक्तिमा जपाकुसुमसंबन्ध्येव सन्नविवेकात्स्फटिके प्रतीयते तद्वदात्मन्यप्यहंकारोपाधिवशादेव संसारः प्रतीयते न स्वतः, सुषुप्त्यादावदर्शनात्। तदुक्तं सर्वज्ञात्ममुनिभिः—'कर्त्रादि संनिधिबलेन तवापि कर्तृभोक्तृप्रमातृवपुरापतति भ्रमेण। तद्बुद्धिसंश्रयमनात्मगतं प्रतीचि शुद्धेऽपि पश्यति तमःपटलावृताक्षः ॥' इति। अत आत्मा नित्यमुक्तं ब्रह्म वेत्यभिप्रायः ॥१०॥

सुषुप्ति और मूर्च्छा में अहंकार के सुप्त—उपरत (लीन) हो जाने पर दुःख, दोष—प्रवृत्तियां—दुःख, रागादि दोष और उनकी कार्यभूता प्रवृत्तियां, क्यों कि देखने में नहीं आतीं, अतः

यह संसार उस अहंकार का ही है। इससे तात्पर्य यह कि संसर्तृ साक्षी—संसार को प्राप्त होने वाले अहंकार के साक्षी मुझ प्रत्यगात्मा में संसार नहीं है। जाग्रत् और स्वप्न में अहंकार के रहने पर ही संसार देखा जाता है और सुषुप्ति आदि में उसका अभाव हो जाने पर केवल आत्मा में संसार देखा नहीं जाता, अतः संसार का सम्बन्ध केवल अहंकार से ही है। आत्मा में भी अहंकार से उसका विवेक न होने पर ही संसार की प्रतीति होती है; जैसे कि दाहकत्व यद्यपि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है, तथापि अग्नि से विवेक न होने पर वह लोहे में भी जान पड़ता है, अथवा जैसे जपाकुसुम से सम्बन्ध रखने वाली लालिमा अविवेक से स्फटिक में भी भासती है। इसी प्रकार आत्मा में भी अहंकाररूप उपाधि के कारण ही संसार की प्रतीति होती है, स्वतः नहीं; क्यों कि सुषप्ति आदि में इसका भान नहीं होता। यही बात श्री सर्वज्ञात्ममुनि ने भी कही है—'कर्ता आदि रूप अहंकार की सन्निधि के कारण ही भ्रम से तेरे स्वरूप में कर्तापन, भोक्ता-पन और प्रमातापन आ पड़ता है। वास्तव में तो जिसके नेत्र अज्ञानरूप आवरण से ढके हुए हैं वही अनात्मा में आत्म-बुद्धि के आश्रित इन अनात्मगत कर्तृत्वादि को शुद्ध प्रत्यगात्मा में भी देखता है।' अतः तात्पर्य यह कि आत्मा नित्यमुक्त ब्रह्म ही है ॥१०॥

आत्मा अवस्थातीत है

नन्वेवमप्यात्मनो जाग्रदाद्यवस्थावत्त्वं वक्तव्यम्, अहंकारस्य सुषुप्तावभावेन सुषुप्त्यवस्थावत्त्वानुपपत्तौ

जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वयसंबन्धित्वस्याप्यनुपपत्तेस्तासां तिसृ-णामप्येकाश्रयत्वनियमादित्याशङ्क्य, अहंकारस्य सुषुप्तौ संस्काररूपेण वर्तमानत्वात्तस्यैव सुषुप्तिर्नात्मनः, तस्य सुषुप्तिसाक्षित्वात्; ततो जाग्रत्स्वप्नावप्यहंकार-स्यैवेत्यभिप्रेत्याह——

ऐसा होने पर भी आत्मा को जाग्रदादि अवस्था वाला तो कहना होगा ही। अहंकार का सुषुप्ति में अभाव होने के कारण क्यों कि उसे सुषुप्ति अवस्था वाला नहीं कह सकते, इसलिये उसका जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं से भी सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, क्योंकि यह नियम है कि ये तीनों अव-स्थाएं एक ही आश्रय वाली हैं। ऐसी शंका उठाकर कहते हैं कि सुषुप्ति में अहंकार संस्काररूप से विद्यमान रहता है, अतः सुषुप्ति उसी की अवस्था है, आत्मा की नहीं; क्योंकि आत्मा तो सुषुप्ति का साक्षी है। इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न भी अहंकार की ही अवस्थाएं हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं:—

सुप्तः सुप्तिं न जानाति नासुप्ते स्वप्नजागरौ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां साक्ष्यतोऽहमतद्दशः ॥११॥

जो (सुप्तः) सुषुप्ति अवस्था में सोया हुआ (सुप्तिं) सुषुप्ति को (न जानाति) नहीं जानता [वह अहंकार ही सुषुप्ति अवस्थावाला है]। (असुप्ते) सुषुप्ति अवस्था से रहित प्रत्यगात्मा में (स्वप्नजागरौ) स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाएं भी (न) नहीं हैं। (अतः) इसलिये (अतद्दशः) इन दशाओं से

रहित (ग्रहम्) मैं (जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनाम्) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का (साक्षी) साक्षी मात्र हूँ ॥११॥

यः सुप्तः सुप्तिं न जानाति न वेत्ति सोऽहंकार एव सुप्तः सुषुप्त्यवस्थावान्, नैवात्मा । कुतः ? सुषुप्तितात्कालिकाज्ञानसाक्षितया जागरूकत्वादित्यर्थः । ततश्चासुप्ते सुषुप्त्यवस्थारहिते प्रत्यगात्मनि स्वप्न-जागरौ न भवतः, तयोः सुषुप्त्यवस्थासमानाश्रयत्वा-दित्यर्थः ।

जो सोता हुआ सुषुप्ति की ओर से बेखबर है वह अहंकार ही सुप्त—सुषुप्ति अवस्थावाला है, आत्मा नहीं । क्यों नहीं ? क्योंकि सुषुप्ति और उस समय के ज्ञान का साक्षी होने के कारण वह तो [उस अवस्था में भी] जागरूक है । इसी से उस असुप्त अर्थात् सुषुप्ति-अवस्था-हीन प्रत्यगात्मा में स्वप्न और जाग्रत् भी नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों अवस्थाएं भी सुषुप्ति के साथ समान आश्रय वाली ही हैं । ऐसा इसका अभिप्राय है ।

हेत्वन्तरमप्याह—जाग्रदित्यादिना । यतो जाग्र-त्स्वप्नसुषुप्तीनां साक्षी द्रष्टा, अतोऽहमात्मा, अतद्दृशः, ता जाग्रदाद्या दशा अवस्था यस्य स तद्दृशः, तद्दृशो न भवतीत्यतद्दृशः, जाग्रदाद्यवस्थारहित इत्यर्थः । अत्रेद-मनुमानं विवक्षितम्—'आत्मा जाग्रदाद्यवस्थावान्न भवति जाग्रदाद्यवस्थासाक्षित्वात्, यो यत्साक्षी न स तद्धर्मवान्यथा घटसाक्षी न घटधर्मवान्' इति ।

'जाग्रत्' इत्यादि उत्तरार्ध से दूसरा हेतु बतलाते हैं । क्यों कि मैं आत्मा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी—द्रष्टा हूँ इसलिये मैं अतद्दृश हूँ । ये जाग्रदादि अव-स्थाएं जिसकी हों उसे कहते हैं—तद्दृश और जो तद्दृश न हो वह हुआ अतद्दृश अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं से रहित । यहां इस प्रकार का अनुमान बतलाना है—आत्मा जाग्रत् आदि अवस्थाओं वाला नहीं है, जाग्रत् आदि अवस्थाओं का साक्षी होने के कारण, जो जिसका साक्षी होता है वह उसी धर्मवाला नहीं होता, जैसे घट का साक्षी घट धर्मवाला नहीं हो सकता ।

तदुक्तमन्वर्थनामसर्वज्ञात्ममुनिभिः —— 'तिस्रोऽपि चिद्घनतनोस्तव दृश्यभूता दूरे चकासति मतेर्बहिरेव तावत् । आविस्तिरोभवनधर्मतया ह्यवस्थाः कः संकरो विमलचिद्वपुषस्तवाभिः ॥' इति ॥११॥

यही बात सार्थकनामा श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने भी कही है—'बुद्धि की ये तीनों अवस्थाएं चिद्घनरूप तुम्हारी दृश्यमात्र हैं । ये आविर्भाव और तिरोभाव धर्मवाली हैं तथा तुम से दूर और बाहिर ही भासित हो रही हैं । तुम तो विशुद्ध चेतन स्वरूप हो, इनके साथ भला तुम्हारा क्या मेल हो सकता है ?' ॥११॥

जाग्रदाद्यवस्थालक्षणपर्यालोचनयापि नात्मनोऽ-वस्थासंबन्ध इत्याह——

जाग्रत् आदि अवस्थाओं के लक्षणों का विचार करने से भी यही निश्चय होता है कि इन अवस्थाओं के साथ आत्मा

का कोई सम्बन्ध नहीं है—यह अब बतलाते हैं—

विज्ञानविरतिः सुप्तिस्तज्जन्म स्वप्नजागरौ ।
तत्साक्षिणः कथं मे स्युर्नित्यज्ञानस्य ते त्रयः ॥१२॥

(विज्ञानविरतिः) **विशेष ज्ञान की उपरति** (सुप्तिः) **सुषुप्ति अवस्था है और** (तज्जन्म) **उस विशेष ज्ञान का उत्पन्न हो जाना** (स्वप्नजागरौ) **स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाएं हैं।** (ते त्रयः) **वे तीनों अवस्थाएं** (तत्साक्षिणः) **उनके साक्षी** (नित्य ज्ञानस्य) **नित्य ज्ञानस्वरूप** (मे) **मुझ आत्मा में** (कथम्) **किस प्रकार** (स्युः) **हो सकती हैं** ॥१२॥

विज्ञानविरतिर्विज्ञानस्य विशेषज्ञानस्य विरतिरुपरतिः सुप्तिरित्युच्यते; तज्जन्म तस्य विशेषज्ञानस्य जन्मोत्पत्तिः स्वप्नजागराविनत्युच्येते; तत्रापि वासनामयप्रपञ्चविज्ञानं स्वप्नः, स्थूलप्रपञ्चविज्ञानं जाग्रदिति विभाग इत्यर्थः । ततः किम् ? तत्राह—तत्साक्षिण इत्यादिना । नित्यज्ञानस्यालुप्तचिद्रूपस्य तत्साक्षिण उक्तलक्षणसुषुप्त्यादिसाक्षिणो मे ममात्मनस्ते त्रयः सुषुप्तिस्वप्नजागराः कथं स्युः ? न कथंचिदित्यर्थः ।

विज्ञानविरति—विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान की विरति—उपरति सुषुप्ति कही जाती है। और तज्जन्म—उस विशेष ज्ञान का उत्पन्न होना स्वप्न और जाग्रत् कहे जाते हैं। इनमें भी वासनामय प्रपञ्च का विज्ञान तो स्वप्न है और स्थूल प्रपञ्च का विज्ञान जाग्रत् है—ऐसा इनका भेद है। अच्छा तो इससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं—'तत्साक्षिणः' इत्यादि। नित्यज्ञानस्वरूप—अलुप्त चिन्मूर्ति, उनके साक्षी अर्थात् उपर्युक्त लक्षणोंवाली सुषुप्ति आदि के साक्षी मुझ आत्मा में वे सुषुप्ति स्वप्न और जाग्रत् तीनों अवस्थाएं कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकतीं।

अयं भावः—सुषुप्त्यावस्थायां तावत्सुषुप्तितात्कालिकाज्ञानावभासकं किंचिच्चैतन्यमङ्गीकार्यं सर्वैरपि, अन्यथोत्थितस्य पुरुषस्य 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्' इति सुषुप्तितात्कालिकाज्ञानपरामर्शानुपपत्तेः । तच्चैतन्यं न जन्यम्, मनश्चक्षुरादेः सुप्त्यन्तःपातित्वात् । अनन्तं च, तदजन्यभावस्य नित्यत्वनियमात् । तच्चैतन्यमस्माभिरात्मेत्युच्यते । तथा च कथमनादिनित्यज्ञानस्वरूपस्यात्मनो ज्ञानोपरमरूपा सुषुप्तिर्ज्ञानोत्पत्तिरूपौ स्वप्नजागरौ च स्युः, अहंकारस्य तु जन्यवृत्तिरूपज्ञानाश्रयत्वात्तत्त्रयमुपपद्यते । ततश्चात्मा जाग्रदाद्यवस्थारहित इति ॥

भाव यह है कि सुषुप्ति अवस्था में भी सुषुप्ति और उस काल में रहने वाले अज्ञान का प्रकाशक कोई चैतन्य तो सभी को स्वीकार करना पड़ेगा, नहीं तो सोकर उठे हुए पुरुष को 'मैं सुख से सोया, कुछ भी न जाना' इस प्रकार का सुषुप्ति और तत्कालीन अज्ञान का स्मरण नहीं बन सकता। वह चैतन्य जन्य भी हो नहीं सकता, क्योंकि [जन्य चैतन्य को

उत्पन्न करने वाले] मन और चक्षु आदि इन्द्रिय तो सुषुप्ति में लीन हो जाते हैं। साथ ही वह नित्य भी है, क्योंकि जो मन आदि से जन्य न हो और भावरूप हो वह नियमतः नित्य ही होता है। उसी चैतन्य को हम आत्मा कहते हैं। जब ऐसी बात है तो अनादि नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञान की निवृत्तिरूपा सुषुप्ति और ज्ञान की उत्पत्तिरूपा स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाएं कैसे हो सकती हैं? अहंकार तो जन्यवृत्तिरूप ज्ञान का आश्रय है, अतः उसमें तो ये तीनों ही अवस्थाएं हो सकती हैं। इससे निश्चय हुआ कि आत्मा जाग्रत् आदि अवस्थाओं से रहित है ॥१२॥

आत्मा निर्विकार है

इदानीमात्मनो निर्विकारब्रह्माभेदाय षड्भावविकारराहित्यं साधयति——

अब निर्विकार ब्रह्म के साथ अभेद बोध कराने के लिये आत्मा की षड्भाव-विकार-हीनता सिद्ध करते हैं:—

षड्विकारवतां वेत्ता निर्विकारोऽहमन्यथा ।
तद्विकारानुसंधानं सर्वथा नावकल्पते ॥१३॥

(षड्विकारवताम्) षड्विकारवालों का (वेत्ता) ज्ञाता (अहम्) मैं आत्मा (निर्विकारः) विकारहीन हूँ। (अन्यथा) यदि ऐसा न हो तो (तद्विकारानुसन्धानम्) उन विकारी वस्तुओं के विकार की अनुभूति (सर्वथा) किसी भी प्रकार (न अवकल्पते) नहीं बन सकती ॥१३॥

षड्विकारवतां षड्भावविकारवताम्, षट् च ते भावविकाराः 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' इत्युक्ताः, ते येषां सन्ति ते षड्विकारवन्तः तेषां बाह्यघटादीनामान्तरबुद्ध्यादीनां च वेत्ता ज्ञाताहमात्मा निर्विकारो विकाररहितो भवामि। आत्मा हि बाह्यान्तरवस्तूनामुत्पत्त्यादिविकाराञ्जानाति, अतो निर्विकारो भवितुमर्हति, 'यो यज्जानाति न स तद्धर्मवान्' इति व्याप्तेर्लोकसिद्धत्वादित्यर्थः। तदुक्तं वार्त्तिककृता——'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः। धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥' इति ॥

षड्विकारवाले अर्थात् छह भाव विकारों वाले—जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते और विनश्यति—ये छह भावविकार* कहे गये हैं। जिनमें ये हों वे छः भाव विकार वाले कहे जाते हैं। उन घट आदि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर पदार्थों का ज्ञाता—जाननेवाला मैं आत्मा निर्विकार—विकार रहित हूँ। आत्मा ही बाह्य और आन्तर वस्तुओं के उत्पत्ति आदि विकारों को जानता है, इसलिये वह निर्विकार होना चाहिए, क्यों कि 'जो जिसे जानता है वह उस धर्मवाला

* १. षड्भावविकारों के ये नाम पारिभाषिक हैं। हिन्दी में इनका अर्थ इस प्रकार है—१. उत्पन्न होना, २. होना, ३. बढ़ना, ४. विपरिणाम होना, ५. क्षीण होना और ६. नष्ट होना।

नहीं होता' लोक में ऐसी व्याप्ति प्रसिद्ध है । ऐसा इसका तात्पर्य है । यही बात वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य ने भी कही है—'बिना विकार हुए कोई दुःखी नहीं हो सकता और जो विकारी है वह साक्षी कैसा ? अतः बुद्धि के हजारों विकारों का साक्षी मैं आत्मा सर्वथा निर्विकार हूं ।'

विपक्षे दोषमाह — अन्यथेत्यादिना । अन्यथा विकारसाक्षिणोऽपि विकारित्वे, तद्विकारानुसंधानं तेषां विकारिवस्तूनां ये विकारास्तेषामनुसंधानं सर्वथा सर्वप्रकारेणापि नावकल्पते, न संभवतीत्यर्थः । अयमभिसंधिः—आत्मनोऽपि विकारित्वे किमात्मन इतरेषां च विकारा आत्मना ज्ञायन्ते, उतेतरैः ? नोभयथापि, विकारिवस्तुनो मृदादिवज्जडत्वनियमादिति ॥

'अन्यथा' इत्यादि से इसके विषय में दोष बतलाते हैं—अन्यथा अर्थात् यदि विकारों का साक्षी भी विकारी हो तो उन विकारों का अनुसन्धान अर्थात् उन विकारी वस्तुओं के जो विकार होंगे उनका अनुभव सर्वथा–किसी भी प्रकार नहीं बनता अर्थात् सम्भव नहीं है । यहां गूढ़ अभिप्राय यह है–यदि आत्मा भी विकारी हो तो उसके तथा दूसरी वस्तुओं के विकारों का ज्ञान आत्मा को होगा या दूसरी वस्तुओं को ? दोनों ही प्रकार से उनका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विकारी वस्तु मृत्तिका आदि के समान जड़ ही होती है–ऐसा नियम है ॥१३॥

किं च विकारिवस्तुनो विकाराणां च किं भेद उताभेदः ? नाद्यः, भिन्नयोर्गवाश्वयोरिव विकारविकारिभावानुपपत्तेरित्यभिप्रेत्य द्वितीयपक्षे दूषणमाह–

इसके सिवा एक बात यह भी विचारणीय है कि विकारी वस्तु और विकारों का भेद होता है या अभेद ? इन में पहली बात तो हो नहीं सकती, क्योंकि भिन्न वस्तुओं का गौ और घोड़े के समान विकार-विकारीभाव ही नहीं बन सकता । इस अभिप्राय को मन में रखकर दूसरे पक्ष में भी दोष दिखाते हैं—

तेन तेन हि रूपेण जायते लीयते मुहुः ।
विकारिवस्तु तस्यैषामनुसंधातृता कुतः ॥१४॥

(विकारिवस्तु) **विकारी वस्तु** (तेन-तेन रूपेण) **उत्पत्ति आदि भिन्न-भिन्न रूप से** (मुहुः) **बार-बार** (जायते लीयते) **उत्पन्न और नष्ट होती रहती है । ऐसी स्थिति में** (तस्य) **उस वस्तु में** (एषाम्) **इन उत्पत्ति आदि विकारों की** (अनुसन्धातृता) **स्वयं स्थित रहते हुए प्रकाशकता** (कथम्) **किस प्रकार हो सकती है ? ॥१४॥**

तेन तेन रूपेणोत्पत्त्यादिविकाररूपेण तदभिन्नं विकारि वस्त्वपि जायत उत्पद्यते मुहुः शश्वल्लीयते नश्यति च, तयोरभेदादित्यर्थः । हि यस्मादेवं तस्मात्तस्य विकारिवस्तुन एषां विकाराणामनुसंधातृता कुतः ? न कुतोऽपि भवेदित्यर्थः । तत्तद्विकाररूपेण तदा तदा नश्यतो विकारिवस्तुनः कथं कालान्तरीयं विकारानु-

संधानं घटते ? न कथंचिदित्यर्थः ॥१४॥

उस-उस रूपसे अर्थात् उत्पत्ति आदि विकाररूप से उनसे अभिन्न विकारी वस्तु भी बार-बार उत्पन्न होती और फिर निरन्तर नष्ट होती रहती है, क्यों कि उन विकार और विकारी वस्तु का अभेद है—ऐसा इसका अभिप्राय है। क्यों कि ऐसी बात है तो फिर उस विकारी वस्तु में इन विकारों की प्रकाशकता कैसे रह सकती है ?—वह इनका प्रकाशन कैसे कर सकती है ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं कर सकती। उस-उस विकाररूप से उसके साथ नष्ट हो जाने वाली विकारी वस्तु के लिये कालान्तर में होने वाले दूसरे विकार का अनुसन्धान करना कैसे सम्भव हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥१४॥

नन्वात्मा स्वयं विकारी सन्नप्यात्मन इतरेषां च विकारान्विजानातु; न च तस्य विकारित्वाविशेषे कथं स्वेतरपरिज्ञानमिति वाच्यम्, शिलात्वाविशेषेऽपि रत्नस्य स्वभावविशेषेण स्वेतरावभासकत्ववदात्मनोऽपि स्वभावविशेषेण स्वेतरविकारानुसंधानोपपत्तेः; न च तेन तेन विकारेण साकं नष्टस्य कथं सर्वविकारानुसंधानमिति वाच्यम्, तस्य विकारिण आत्मनो विकारैरत्यन्ताभेदस्यानङ्गीकारात्किं त्वीषद्भेदघटिताभेदस्य तादात्म्यस्यैव तन्तुपटयोरिवाङ्गीकारात्।

शंका—आत्मा स्वयं विकारी होने पर भी तो अपने और

दूसरों के विकारों को जान सकता है। 'सामान्यतया विकारी होने पर उसे अपना और दूसरों का ज्ञान कैसे होगा ?' ऐसा कहना भी तो ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार शिला होने में समानता होने पर भी रत्न अपने विशेष स्वभाव के कारण अपने को और दूसरी वस्तुओं को भी प्रकाशित कर सकता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने विशेष स्वभाव के कारण अपने और दूसरी वस्तुओं के विकारों का अनुसंधान कर सकता है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि उस-उस विकार के साथ नष्ट हुए आत्मा के लिये सम्पूर्ण विकारों का अनुसन्धान करना संभव नहीं है क्यों कि हम उस विकारी आत्मा का विकारों के साथ सर्वथा अभेद तो स्वीकार करते नहीं हैं, अपितु तन्तु और पट के समान थोड़े से भेद के साथ रहने वाला अभेदरूप तादात्म्य ही स्वीकार करते हैं।

इत्याशङ्क्य, एवमप्यात्मन आद्यन्तविकारद्वयानुसंधानं न संभवतीत्याह—

ऐसी शंका करके अब यह बतलाते हैं कि इस प्रकार भी आत्मा के द्वारा आरम्भिक और अन्तिम दो विकारों का अनुसन्धान होना तो असम्भव ही है—

न च स्वजन्म नाशं वा द्रष्टुमर्हति कश्चन।
तौ हि प्रागुत्तराभावचरमप्रथमक्षणौ ॥१५॥

(कश्चन) कोई भी (स्वजन्म नाशं वा) अपना जन्म और नाश तो (द्रष्टुम्) देखने में (न च) नहीं ही (अर्हति) समर्थ है; (हि) क्यों कि (तौ) वे उत्पत्ति और नाश तो (प्रागुत्तरा-

भावचरमप्रथमक्षणौ) **क्रमशः प्रागभाव के अन्तिम और प्रध्वंसाभाव के अन्तिम क्षण हैं ॥१५॥**

कश्चन कश्चिन्निपुणोऽपि स्वजन्म स्वोत्पत्तिं नाशं ध्वंसं वा द्रष्टुं ज्ञातुं नार्हति, न शक्नोतीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—तौ हीत्यादिना। हि यस्मात्तौ जन्मनाशौ प्रागुत्तराभावचरमप्रथमक्षणौ, प्रागुत्तरौ यावभावौ प्रागभावप्रध्वंसाभावौ, तयोर्यौ चरमप्रथमक्षणौ तौ प्रागुत्तराभावचरमप्रथमक्षणौ, प्रागभावचरमक्षणं उत्पत्तिर्वस्तुनः प्रध्वंसाभावप्रथमक्षणो नाश इत्यर्थः। यस्माज्जन्मनाशौ प्रागुत्तराभावचरमप्रथमक्षणौ तस्मात्स्वजन्म नाशं वा द्रष्टुं नार्हतीति संबन्धः।

कश्चन—कोई चतुर पुरुष भी अपनी उत्पत्ति और अपने नाश को देखने—जानने में समर्थ नहीं है, अर्थात् वह इन्हें नहीं जान सकता। उसमें 'तौ हि' इत्यादि उत्तरार्ध से कारण बताते हैं—क्यों कि वे जन्म और नाश प्रागभाव और उत्तराभाव के अन्तिम और प्रथम क्षण हैं। प्राग् और उत्तर में रहने वाले जो अभाव हैं अर्थात् प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव उनके जो अन्तिम और प्रथम क्षण वे ही हैं प्रागभाव और उत्तराभाव के अन्तिम एवं प्रथम क्षण। अभिप्राय यह कि प्रागभाव का अन्तिम क्षण है वस्तु की उत्पत्ति और प्रध्वंसाभाव का प्रथम क्षण है वस्तु का नाश। अतः इस वाक्य का सम्बन्ध इस प्रकार लगाना चाहिये—क्यों कि जन्म और नाश ये क्रमशः प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के अन्तिम एवं प्रथम क्षण हैं इसलिये आत्मा अपने ही जन्म और नाश को नहीं देख सकता।

इदमत्राकूतम्—आत्मा हि स्वसमानकालिकवस्त्वेव जानातीति वक्तव्यम्, दीप इव स्वसमानकालिकपदार्थावभासकः। तथा च स्वावस्थानसमयेऽविद्यमानयोः प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः परिज्ञानाभावे कथं प्रागभावचरमक्षणरूपं स्वजन्म प्रध्वंसाभावप्रथमक्षणरूपं नाशं च जानीयात्? न कथंचिदपीत्यर्थः। तयोश्चासिद्धौ मध्यवर्तिविकाराणामप्यसिद्धिरेव, तेषामपि विकाराणामुत्पत्तिनाशसमानाश्रयत्वनियमात्। तदुक्तं वाक्यवृत्तौ भाष्यकारैः—'देहेन्द्रियमनःप्राणाहंकृतिभ्यो विलक्षणः। प्रोज्झिताशेषषड्भावविकारस्त्वंपदाभिधः ॥' इति। निर्विकारत्वाद्ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥

यहां गूढ़ अभिप्राय यह है—यह तो कहना ही पड़ेगा कि दीपक जिस प्रकार अपने समकालीन पदार्थों का ही प्रकाशक है वैसे ही आत्मा भी अपने समय में होने वाली वस्तुओं को ही जानता है। यदि ऐसा है तो अपनी स्थिति के समय न रहनेवाले अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का ज्ञान न होने पर वह प्रागभाव के अन्तिम क्षणरूप अपने जन्म और प्रध्वंसाभाव के प्रथम क्षणरूप अपने नाश को किस प्रकार जान सकता है। इस प्रकार इन दोनों विकारों का ज्ञान न होने

पर मध्यवर्ती विकारों के ज्ञान की भी असिद्धि स्वतः प्राप्त हो जाती है, क्यों कि वे बीच के विकार भी उत्पत्ति और नाश के समान आश्रयवाले ही होते हैं—ऐसा नियम है। यही बात भगवान् भाष्यकार ने भी वाक्यवृत्ति में कही है–'देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और अहंकार से विलक्षण तथा सम्पूर्ण छहों विकारों से शून्य तत्त्व ही 'त्वम्' पद का वाच्य है।' अतः तात्पर्य यह कि निर्विकार होने के कारण आत्मा ब्रह्म ही है ॥१५॥

आत्मा में अज्ञान की असम्भवता

ननु पूर्वोक्तं सर्वं वृथा, आत्मन् उक्तस्वरूपब्रह्मत्वज्ञाने प्रयोजनाभावात्; न च संसारनिवृत्तिरात्मनो ब्रह्मत्वज्ञाने प्रयोजनमिति वाच्यम्, तन्निवृत्तेरसंभवात्; संसारो ह्यात्मन्यहंकारोपाधिना प्रतीयमानः कर्तृत्वादिः; स च न ज्ञानेन निवर्तयितुं शक्यः, तस्यात्मनि सोपाधिकभ्रमत्वात्, सोपाधिकभ्रमस्य च यावदुपाध्यवस्थानं तत्त्वज्ञानेऽप्यवस्थानात्, लोके सोपाधिकभ्रमस्य प्रतिबिम्बचलनादेर्यावदुपाधिचलनं प्रतीतेः; न चोपाधेरहंकारस्य ब्रह्मज्ञानेन निवृत्तौ तत्प्रयुक्तस्यात्मनि प्रतीयमानस्य कर्तृत्वादेरपि निवृत्तिरिति वाच्यम्, तस्य मूलाज्ञाने सति निवृत्तेरसम्भवात्; न च मूलाज्ञानस्याप्यात्मनि विद्यमानस्य ब्रह्मज्ञानान्निवृत्तिरिति वाच्यम्, तस्य कल्पकाभावेनाकल्पिततया ज्ञानेन निवर्तयितुमशक्यत्वादन्यथाज्ञानस्यानवस्थानप्रसङ्गात्।

शंका—यहां तक जो कुछ कहा गया है वह सब वृथा है, क्यों कि आत्मा को पूर्वोक्त स्वरूप वाला ब्रह्म जान लेने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यह भी कहा नहीं जा सकता कि आत्मा के ब्रह्मत्व ज्ञान का प्रयोजन संसार की निवृत्ति है, क्यों कि उसकी निवृत्ति तो असम्भव है। आत्मा में अहंकाररूप उपाधि के कारण प्रतीत होने वाला कर्तृत्व आदि ही तो संसार है। उसका ज्ञान के द्वारा निवृत्त होना सम्भव ही नहीं है, क्यों कि वह आत्मा में सोपाधिक भ्रम है। और सोपाधिक भ्रम उपाधि की स्थिति तक रहा ही करता है, इसलिये ज्ञान हो जाने पर भी वह रहेगा ही। लोक में उपाधिरूप जल के चंचल रहने तक सोपाधिक भ्रमरूप प्रतिबिम्बादि की चंचलता प्रतीत होती है। अतः ऐसा नहीं कह सकते कि ब्रह्म ज्ञान के द्वारा उपाधिरूप अहंकार के निवृत्त हो जाने पर उसके कारण आत्मा में प्रतीत होनेवाले कर्तृत्वादि भी निवृत्त हो जाते हैं, क्यों कि मूल अज्ञान के रहते हुए उसकी निवृत्ति असम्भव है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा में विद्यमान मूल अज्ञान की भी ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति हो जाती है, क्यों कि उसका कोई कल्पक नहीं है, अतः अकल्पित होने के कारण वह ज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता। अन्यथा (यदि अकल्पित होने पर भी उसकी निवृत्ति मानेंगे तो) ज्ञान के भी स्थिर न रह सकने का प्रसंग उपस्थित होगा।

इत्याशङ्क्य, अज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वसिद्धये कल्पितत्वं वक्तुं तस्यात्मनि वस्तुतोऽसंभवमाह——

ऐसी शंका करके अब, अज्ञान ज्ञान से निवृत्त हो सकता है इस बात को सिद्ध करने के उद्देश्य से उस अज्ञान को कल्पित करने के लिये आत्मा में वस्तुतः उसकी असम्भावना बतलाते हैं—

न प्रकाशेऽहमित्युक्तिर्यत्प्रकाशनिबन्धना ।
स्वप्रकाशं तमात्मानमप्रकाशः कथं स्पृशेत् ॥१६॥

(अहम्) **मैं** (न प्रकाशे) **भासित नहीं होता हूँ** (इति) **ऐसी** (उक्तिः) **उक्ति** (यत्प्रकाशनिबन्धना) **जिसके प्रकाश के कारण है** (तम्) **उस** (स्वप्रकाशम्) **स्वयं प्रकाश** (आत्मानम्) **आत्मा को** (अप्रकाशः) **अज्ञान** (कथम्) **कैसे** (स्पृशेत्) **स्पर्श कर सकता है** ॥१६॥

अहं न प्रकाशे न भामीत्युक्तिर्वचनं यत्प्रकाशनिबन्धना. यस्य प्रकाशो यत्प्रकाशः स्वरूपप्रकाश एव निबन्धनं निमित्तं यस्याः सा तथोक्ता, 'न प्रकाशे' इति व्यवहारस्य प्रकाशैकनिबन्धनत्वात्, स्वप्रकाशानुभवनिमित्तत्वादित्यर्थः । तं स्वप्रकाशं स्वयमेव भासमानमात्मानमप्रकाशोऽज्ञानं कथं स्पृशेदावृणुयात् ? न कथंचिदित्यर्थः ।

मैं प्रकाशित—भासित नहीं होता—ऐसी उक्ति अर्थात् कथन जिस प्रकाश के निमित्त से है । 'यत्प्रकाश' का अर्थ है 'जिसका प्रकाश' अर्थात् जिसका स्वरूपभूत प्रकाश ही इस उक्ति का

निबन्धन—निमित्त है वह उक्ति ही ऐसी (यत्प्रकाशनिबन्धना) कही गयी है, क्यों कि 'प्रकाशित नहीं होता' ऐसा व्यवहार भी एकमात्र प्रकाश के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है । तात्पर्य यह कि स्वयंप्रकाश अनुभव के द्वारा ही इसकी सिद्धि हो सकती है । उस स्वप्रकाश—स्वयं ही भासमान आत्मा को अप्रकाश—अज्ञान कैसे स्पर्श यानी आवरण कर सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं कर सकता ।

अयं भावः—आत्मा सर्वदा स्वयं भासमानः सर्वं भासयति; स कथमज्ञानेन प्रकाशविरोधिना स्पृश्येत ? न हि खरतरकिरणशाली दिनकरस्तमसा स्पृश्यमानो दृश्यते; तत्कस्य हेतोः ? प्रकाशाप्रकाशयोर्विरोधात्; तथा चाज्ञानस्यात्मनि अयुक्तसहत्वान्न परमार्थतः संभव इति ॥१६॥

भाव यह कि आत्मा सर्वदा स्वयं प्रकाशित होता हुआ ही सब को प्रकाशित करता है; वह प्रकाश के विरोधी अज्ञान द्वारा कैसे आवरण किया जा सकता है ? तीक्ष्णतर किरणों वाला सूर्य कभी अन्धकार से आवृत नहीं देखा जाता । इसमें कारण क्या है ? क्यों कि प्रकाश और अप्रकाश का विरोध है । इस प्रकार आत्मा में अज्ञान का होना युक्तिसंगत न होने के कारण वास्तव में असम्भव ही है ॥१६॥

अज्ञान की ज्ञान द्वारा निवृत्ति

ननु कथं तर्हि 'न प्रकाशे' इत्यात्मन्यज्ञानानुभव

इत्याशङ्क्य सूर्ये पेचकादीनामन्धकारप्रतीतिवद्भ्रान्त्याप्युपपद्यत इत्याह—

तो फिर 'मैं प्रकाशित नहीं होता' ऐसा आत्मा में अज्ञान का अनुभव कैसे हो रहा है ? ऐसी आशंका करके यह बताते हैं कि उल्लू आदि को सूर्य में अन्धकार की प्रतीति होती है वैसे ही भ्रान्ति से आत्मा में ऐसा अनुभव होना सम्भव है—

तथाप्याभाति कोऽप्येष विचाराभावजीवनः।
अवश्यायश्चिदाकाशे विचारार्कोदयावधिः ॥१७॥

(तथापि) **तो भी** (चिदाकाशे) **चिदात्मारूप आकाश में** (विचारार्कोदयावधिः) **विचाररूप सूर्य का उदय होने तक** (विचाराभावजीवनः) **विचार का अभाव ही जिसकी स्थिति का कारण है** (कः अपि एषः) **ऐसा कोई यह** (अवश्यायः) **अज्ञानरूपी कुहिरा** (आभाति) **भास रहा है ॥१७॥**

यद्यपि वस्तुत आत्मन्यज्ञानं न संभवति, तथाप्येषोऽप्रकाश., अवश्यायो नीहारः, अवश्यायवदवश्याय आवरकत्वात्, चिदाकाशे चित्प्रकाश आत्मन्याभातीति संबन्धः ।

यद्यपि वास्तव में आत्मा में अज्ञान का होना सम्भव नहीं है, तथापि वह अप्रकाशरूप अवश्याय—कुहिरा, जो आवरण करने वाला होने से कुहिरे के समान ही कुहिरा कहा गया है, चिदाकाश में—चित्प्रकाशरूप आत्मा में भास रहा है—ऐसा इसका सम्बन्ध (अन्वय) लगाना चाहिये ।

नन्वज्ञानस्य वस्तुतोऽसत्त्वे कथं प्रत्यक्षप्रतीतिः ? न ह्यसतः शशविषाणादेः प्रत्यक्षप्रतीतिरस्ति, तत्राह—कोऽपीति । कोऽपि सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयः । अप्रकाशस्यासद्विलक्षणत्वाङ्गीकारान्न प्रत्यक्षप्रतीत्यनुपपत्तिरित्यर्थः ।

किन्तु जब अज्ञान वास्तव में है ही नहीं तो उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति कैसे होती है ? शशशृंग आदि असत् वस्तुओं की प्रत्यक्ष प्रतीति तो हुआ नहीं करती । इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—'कोऽपि' इत्यादि । ऐसा कोई अर्थात् सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय । इस प्रकार अप्रकाश (अज्ञान) को असत् से भिन्न स्वीकार करने के कारण उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति अनुपपन्न नहीं है—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

नन्वेवमप्यप्रकाशस्यात्मन्यनुभवो नोपपद्यते विरोधादिति चेत्; न, तथा हि—किं जडवस्त्वप्रकाशविरोधि, उत स्वप्रकाशरूप आत्मा ? नाद्यः, जडाप्रकाशयोः परस्परविरोधासंभवात्; नापि द्वितीयः, तस्य विरोधिनि स्वप्रकाश आत्मन्यवस्थानानुपपत्तेः ।

किन्तु ऐसा होने पर भी अप्रकाश का आत्मा में अनुभव होना उपपन्न नहीं है, क्यों कि उससे इसका विरोध है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—नहीं । ऐसी स्थिति में भला जड वस्तु का अप्रकाश से विरोध है या स्वप्रकाशरूप आत्मा का ? इनमें पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, क्यों कि जड़ और

अप्रकाश (अज्ञान) का आपस में कोई विरोध हो नहीं सकता। और न दूसरा पक्ष ही बनता है, क्यों कि ऐसी स्थिति में उसकी अपने विरोधी स्वप्रकाश आत्मा में स्थिति ही सम्भव नहीं है।

न च 'अहं न प्रकाशे' इत्यज्ञानसाधकस्य तस्य नाज्ञानविरोधित्वमिति वाच्यम्, आत्मस्वरूपस्य प्रकाशस्याविरोधित्वेऽन्यस्यापि विरोधिनोऽभावात्कदापि निवृत्तिर्न स्यात्, तत्राह—विचारार्कोदयावधिरिति। विचारो विचारजन्यं ज्ञानमेवार्कः सूर्यस्तमोनिवर्तकत्वात् तस्योदय उत्पत्तिः, सोऽवधिः स्थितिमर्यादा यस्याप्रकाशस्य स विचारार्कोदयावधिरित्यर्थः। केवलात्मनोऽविरोधित्वेऽप्यखण्डाकारवृत्त्यारूढात्मचैतन्यस्य तन्निवर्तकत्वोपपत्तिः, केवलसूर्यकिरणस्यादग्धृत्वेन तृणादिभासकत्वेऽपि सूर्यकान्तसंयुक्तस्य तस्य दग्धृत्वदर्शनादिति भावः।

तथापि 'मैं प्रकाशित नहीं होता हूँ' इस प्रकार अज्ञान को सिद्ध करने वाले उस आत्मा को अज्ञान का अविरोधी भी नहीं कहा जा सकता, क्यों कि यदि आत्मा का स्वरूपभूत प्रकाश उसका अविरोधी होगा तो उससे भिन्न उसका कोई और विरोधी न होने के कारण उसकी कभी निवृत्ति ही नहीं होगी। इसी से कहते हैं—'विचारार्कोदयावधिः।' विचार यानी विचारजन्य ज्ञान, वही है अर्क-सूर्य, अन्धकार को निवृत्त करने वाला होने से, उसका उदय—उत्पत्ति, वही है अवधि अर्थात्

स्थिति की मर्यादा जिस अप्रकाश की ऐसा वह अप्रकाश विचारार्कोदयावधि है—ऐसा इसका तात्पर्य है। इस प्रकार यद्यपि केवल आत्मा उस अप्रकाश का अविरोधी है तथापि अखण्डाकार वृत्ति पर आरूढ़ आत्मचैतन्य उसका निवर्तक बन जाता है, क्यों कि जैसे केवल सूर्यकिरण तृणादि का दाहक न होकर उनका प्रकाशक ही होता है, तथापि सूर्यकान्तमणि से संयुक्त होने पर उसमें उनकी दाहकता भी देखी गयी है—ऐसा इसका भाव है।

किमिति तर्हि वाक्यजन्याखण्डाकारवृत्तौ सत्यामपि सर्वेषामात्माज्ञानं न निवर्तत इत्याशङ्क्याह—विचाराभावजीवन इति। विचाराभाव एव श्रवणमननरूपयोर्वेदान्तप्रमाणतत्प्रमेयब्रह्मविषययोर्विचारयोरभाव एव जीवनमवस्थितिहेतुर्यस्याप्रकाशस्य स विचाराभावजीवन इत्यर्थः। वाक्यजन्याप्यखण्डाकारवृत्तिरसंभावनादिभिः प्रतिबद्धा सती नाज्ञानं निवर्तयति, यथा मणिमन्त्रादिभिः प्रतिबद्धोऽग्निः संयुक्तमपि तृणादिकं न दहति तद्वत्। तदुक्तं सर्वज्ञात्ममुनिभिः—'पुरुषापराधमलिना धिषणा निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा। न फलाय दृष्टविषया भवति श्रुतिसंभवापि तु तथात्मनि धीः।' इति।

तो फिर ऐसा क्यों है कि वाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्ति के होने पर भी सभी का आत्मविषयक अज्ञान निवृत्त नहीं होता? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—'विचाराभावजीवनः'

विचार का अभाव ही अर्थात् वेदान्त प्रमाण और उसके प्रमेय ब्रह्मविषयक श्रवण-मननरूप विचार का अभाव ही जिस अप्रकाश का जीवन–स्थिति का हेतु है ऐसा वह अप्रकाश विचाराभावजीवन है। वाक्यजनित अखण्डाकारवृत्ति भी जब-तक असम्भावना आदि से प्रतिबद्ध रहती है तबतक अज्ञान को निवृत्त नहीं करती, जिस प्रकार मणि और मन्त्रादि से प्रतिबद्ध हुआ अग्नि अपने संसर्ग में आये हुए भी तृणादि को नहीं जला पाता। ऐसा ही श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने भी कहा है– 'जिस प्रकार निर्दोष नेत्रों से उत्पन्न हुई भी बुद्धि की वृत्ति पुरुष के [अन्यमनस्कता आदि] अपराध से मलिन होने के कारण विषय को देख लेने पर भी सफल नहीं होती [अर्थात् उसे ऐसा भान नहीं होता कि मैंने विषय को देखा है] उसी प्रकार श्रुति प्रमाण से उत्पन्न हुई आत्मविषयिनी अखण्डाकार-वृत्ति भी [अविचार से प्रतिबद्ध होने पर] अज्ञाननिवृत्तिरूप फल को उत्पन्न करनेवाली नहीं होती।'

यदा तु सम्यग्विचारेणासंभावनादयो निवर्तन्ते तदाप्रतिबद्धा सत्यज्ञानं निवर्तयति, यथा मण्यादिप्रति-बन्धनिवृत्तावग्निस्तृणादिकं दहति तद्वत्। एतदपि तैरे-वोक्तम्––'पुरुषापराधविगमे तु पुनः प्रतिबन्धकव्युदस-नात्सफला। मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा सति पावका-द्भवति धूमलता॥' इति। तथा चाज्ञानस्यानिर्वचनी-यस्य कल्पितत्वेन ज्ञानान्निवृत्त्युपपत्तिः।

किन्तु जब सम्यक् विचार से असम्भावना आदि दोष

निवृत्त हो जाते हैं तब वह वृत्ति प्रतिबन्धशून्य होकर अज्ञान को निवृत्त कर देती है, ठीक वैसे ही जैसे कि मणि आदि प्रति-बन्ध के न रहने पर अग्नि, तृण आदि को जला डालता है। यह बात भी उन श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने ही कही है–'पुरुष का अपराध निवृत्त होने पर तो फिर प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो जाने से वह वृत्ति सफल होती है, जिस प्रकार कि मणि एवं मन्त्ररूप प्रतिबन्ध के निवृत्त होने पर अग्नि प्रज्वलित हो जाता है।' इसी प्रकार कल्पित होने के कारण अनिर्वचनीय अज्ञान की ज्ञान द्वारा निवृत्ति उपपन्न ही है।

न च तस्य कल्पकाभावोऽज्ञानस्य, लोके दीपवद्भा-ट्टपक्षे स्फुरणवद्गुरुमते संवेदनवद्गुरुबौद्धव्यतिरिक्तमते भेदवच्च स्वपरनिर्वाहकत्वात्। नाप्यनवस्था, अज्ञाना-न्तरस्यानङ्गीकारात्।

उस अज्ञान की कोई कल्पना करने वाला नहीं है–ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि लोक में जैसे दीपक, भाट्टमत में जैसे स्फुरण, गुरुमत में जैसे संवेदन और गुरु एवं बौद्ध को छोड़कर अन्य मतों में जैसे भेद अपने तथा अन्य के निर्वाहक हैं [वैसे ही अज्ञान भी अपनी तथा दूसरों की कल्पना करने वाला है]। इसमें अनवस्था दोष भी नहीं है, क्यों कि कोई दूसरा अज्ञान हम स्वीकार नहीं करते।

तथा चाज्ञानस्य ज्ञानान्निवृत्तौ मूलोच्छेदेनाहंका-रस्य निवृत्तिसंभवादात्मनि प्रतीयमानस्याहंकारोपाधि-

प्रयुक्तस्य कर्तृत्वादिरूपसंसारस्यापि निवृत्तिर्भवतीति प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वज्ञान सफलमिति भावः ॥१७॥

इस प्रकार ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने पर मूल का उच्छेद होने से अहंकार की निवृत्ति सम्भव हो जाती है और उससे आत्मा में अहंकाररूप उपाधि के कारण प्रतीत होने वाला कर्तृत्वादिरूप संसार भी निवृत्त हो जाता है। अतः भाव यह कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान सफल ही है ॥१७॥

कर्मकाण्ड के प्रामाण्य की व्यवस्था

ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याज्ञानकल्पिततया परमार्थतोऽसत्त्वे कर्मकाण्डाद्यप्रामाण्यं स्यात्, स हि स्वर्गकामादेर्यागादिकर्तव्यतां बोधयति; तच्च बोधनं नियोगस्यापूर्वस्य नियोज्यस्य पुरुषस्य नियोगविषयस्य यागस्य नियोगफलस्य स्वर्गस्य च परमार्थतोऽसत्त्वेऽनुपपन्नं स्यात्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य परमार्थतोऽसत्त्व उपनिषदप्रामाण्यं च स्यात्; तत्रापि हि मोक्षकामस्य 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिना श्रवणादिकर्तव्यता बोध्यते; तस्याप्यप्रामाण्यमयुक्तम्, कर्मकाण्डोपनिषदेकदेशयोरपि ब्रह्मवाक्येन सह संप्रदायस्य तुल्यत्वात्।

शंका—ब्रह्म से भिन्न अज्ञान कल्पित होने के कारण यदि सब असत् है तब तो कर्मकाण्ड आदि अप्रमाणिक हो जायगा। स्वर्गादि की कामना वाले पुरुषों के लिये शास्त्र का कर्मकाण्ड ही तो यागादि की कर्त्तव्यता सूचित करता है। यदि नियोगरूप अपूर्व, नियोज्य पुरुष, नियोग का विषय याग और नियोग का फल स्वर्ग वस्तुतः असत् है तो शास्त्र का कर्त्तव्यबोधन अनुपपन्न होगा। यही नहीं, यदि ब्रह्म से भिन्न परमार्थतः सभी असत् हैं तो उपनिषद् भी अप्रामाणिक सिद्ध होंगे, क्यों कि उनमें भी मोक्ष की कामना वाले को 'अरे! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये' इत्यादि वाक्य से श्रवण आदि की कर्त्तव्यता सूचित की गयी है। उस उपनिषद्वाक्य की अप्रामाणिकता भी उचित नहीं है, क्यों कि कर्मकाण्ड और उपनिषद् के एक देश की भी ब्रह्मवाक्यरूपसे सम्प्रदाय में समानता है*

इत्याशङ्क्य, किं तत्त्वज्ञानोत्तरकाले कर्मकाण्डाद्यप्रामाण्यमापाद्यते किं वा ततः प्राक्काले? नाद्यः, तदुत्तरकाले तदप्रामाण्यस्य गार्हस्थ्ये ब्रह्मचारिधर्मविदकश्रुतेरिव संन्यासाश्रमकालेऽग्निहोत्रादिश्रुतेरिव चेष्टत्वादित्यभिप्रेत्य द्वितीयं प्रत्याह—

ऐसी शंका होने पर हम पूछते हैं कि कर्मकाण्ड की अप्रामाणिकता तत्त्वज्ञान के पीछे प्राप्त होती है अथवा उससे पहले? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं। और क्यों कि तत्त्वज्ञान पश्चात् तो उसकी अप्रामाणिकता, गार्हस्थ्य में ब्रह्मचारी के धर्मों का उपदेश करने वाली और संन्यासाश्रम में अग्नि-

*अर्थात् श्रुति प्रतिपादित होने के कारण कर्मकाण्ड और उपनिषद् दोनों ही ईश्वर से प्रकट हुए हैं, अतः सम्प्रदायदृष्टि से दोनों समान हैं।

होत्रादि का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के समान, इष्ट ही है, अतः इसी अभिप्राय से [प्रथम पक्ष को छोड़कर] द्वितीय पक्ष के विषय में कहते हैं—

आत्माज्ञानमहानिद्राजृम्भितेऽस्मिञ्जगन्मये ।
दीर्घस्वप्ने स्फुरन्त्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमाः ॥१८॥

(आत्माज्ञानमहानिद्राजृम्भिते) आत्मविषयक अज्ञानरूपी महानिद्रा से उत्पन्न (अस्मिन् जगन्मये) इस जगत्-रूप (दीर्घस्वप्ने) लम्बे स्वप्न में (एते) ये (स्वर्गमोक्षादिविभ्रमाः) स्वर्ग और मोक्षादि रूप भ्रम (स्फुरन्ति) स्फुरित हो रहे हैं ॥१८॥

आत्माज्ञानमहानिद्राजृम्भिते, आत्माज्ञानं प्रत्यगात्माश्रयविषयमज्ञानम्, तदेव महती निद्रानादिकालमारभ्य प्रवृत्तत्वात्स्वरूपावरणपूर्वकविपरीतहेतुत्वाच्च, ततो जृम्भित उत्पन्ने जगन्मये जगद्रूपेऽस्मिन्ननुभूयमाने दीर्घस्वप्ने तत्त्वज्ञानपर्यन्तमनुवर्तमाने, एते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमाः स्वर्गमोक्षावादी येषां विभ्रमाणां ते तथा। स्वर्गशब्दस्तत्कामनियोज्यनियोगतद्विषययागादेरप्युपलक्षणम्। मोक्षशब्दश्च तत्साधनज्ञानश्रवणादिनियोगादेरप्युपलक्षणम्। आदिशब्दो लौकिकव्यवहारानुकूलपुत्रमित्रादिसंग्रहार्थः। मोक्षस्य बन्धसापेक्षत्वाद्बन्धस्य च मिथ्यात्वाद्बन्धसापेक्षमोक्षस्यापि विभ्रमत्वं द्रष्टव्यम्। स्फुरन्ति स्फुरन्तीव, न तु स्फुरन्तीत्यर्थः ।

'आत्माज्ञानमहानिद्राजृम्भिते'—प्रत्यगात्मा को आश्रय और विषय करने वाला अज्ञान ही है आत्माज्ञान; वही अनादि काल से प्रवृत्त होने के कारण तथा स्वरूप के आवरणपूर्वक विपरीत ज्ञान का हेतु होने के कारण बड़ी भारी निद्रा है, उससे जृम्भित—उत्पन्न जगत्‌रूप इस प्रतीत होनेवाले दीर्घ स्वप्न में, जो तत्त्वज्ञान होने तक बना रहता है, ये स्वर्ग-मोक्षादि विभ्रम अर्थात् जिन भ्रमों के आरम्भ में स्वर्ग और मोक्ष हैं, स्फुरित होते हैं। यहां 'स्वर्ग' शब्द स्वर्ग की कामना वाले नियोज्य, नियोग और नियोग के विषय यागादि का भी उपलक्षण है, 'मोक्ष' शब्द उसके साधन ज्ञान एवं श्रवणादि जो नियोगादि हैं उनका भी उपलक्षण है तथा 'आदि' शब्द लौकिक व्यवहार के अनुकूल पुत्र-मित्रादि को उनके साथ सम्मिलित करने के लिये है। मोक्ष तो बन्ध की अपेक्षा से है और बन्ध है मिथ्या; अतः बन्ध की अपेक्षा रखने वाले मोक्ष को भी भ्रमरूप ही समझना चाहिये। 'स्फुरित होते हैं' इसका तात्पर्य है 'स्फुरित से होते हैं' वास्तव में स्फुरित नहीं होते।

अयं भावः—तत्त्वज्ञानात्पूर्वकाले व्यावहारिकसत्यस्य सर्वस्य जगतो नियज्यनियोगादेः सत्त्वेन प्रबोधात्पूर्वं स्वप्नादाविव सर्वव्यवहारोपपत्तेर्न कर्मकाण्डाद्यप्रामाण्यम्, तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यस्य सत्त्वात्। तावता च तस्य चरितार्थत्वेऽतत्पराणामगतिकानां ब्रह्मवाक्यानां परमार्थसत्यविषयाणां नाकस्माद्बाधो युक्तः।

तदर्थस्य व्यावहारातीतत्वेन व्यावहारिकप्रामण्यानुपपत्तौ ब्रह्मवाक्यानां तात्त्विकप्रामाण्यस्याप्यनङ्गीकारे किंचिदपि प्रामाण्यं न स्यात्। प्रकारभेदेनोभयप्रामाण्योपपत्तौ च सर्वात्मना तदप्रामाण्यं न युक्तम्। तदुक्तं सकलवेदार्थज्ञेन ब्रह्मणापि ब्रह्मगीतायाम्—'सत्यार्थो हि द्विधा प्रोक्तो मया हे स्वर्गवासिनः। एकः स्वभावतः साक्षात्परमार्थः सदैव तु॥ स शिवः सत्यचैतन्यः सुखानन्त्यस्वलक्षणः। अपरः कल्पितः साक्षाद्ब्रह्मण्यध्यस्तमायया॥ व्यावहारिकसत्यार्थं साक्षात्सत्यार्थचिद्घनम्। उभयं वक्ति वेदस्तु मार्गा नैवं वदन्ति हि॥' इति।

भाव यह कि जागने से पहले जैसे स्वप्नादि का सब व्यवहार रहता है वैसे ही तत्त्वज्ञान होने से पहले व्यावहारिक सत्यरूप सम्पूर्ण जगत् का नियोज्य-नियोगादिरूप व्यवहार रहता ही है, अतः उस अवस्था में कर्मकाण्डादि की अप्रामाणिकता नहीं है, क्यों कि इस जगत् की व्यावहारिक प्रामाणिकता तो है ही। इतने ही से कर्मकाण्ड की सफलता हो जाती है। अतः इससे कर्मकाण्ड को विषय न करने वाले, गति आदि शून्य एवं परमार्थ सत्य के प्रतिपादक ब्रह्मविषयक वाक्यों का अकस्मात् बाध मान लेना उचित नहीं है। उनका प्रतिपाद्य ब्रह्म व्यवहारातीत है, इसलिये उनका व्यावहारिक प्रामाण्य मानना तो उचित हो नहीं सकता; ऐसी स्थिति में यदि उन ब्रह्मसम्बन्धी वाक्यों का तात्विक प्रामाण्य भी स्वीकार नहीं

किया जायगा तो फिर उनकी कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रहेगी। इस तरह प्रकार भेद से तो दोनों ही की प्रामाणिकता उपपन्न हो जाती है, अतः उन्हें सर्वथा अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। यही बात सम्पूर्ण वेद के मर्मज्ञ श्रीब्रह्मा जी ने भी ब्रह्मगीता में कही है—'हे स्वर्गनिवासी देवताओ! मैंने सत्य वस्तु दो प्रकार की बतलायी है। एक तो सर्वदा स्वभाव से ही साक्षात् परमार्थरूप है; वह सत्य, चैतन्य, आनन्द और अनन्त लक्षणों वाला स्वयं शिव है। दूसरा सत्य साक्षात् ब्रह्म में अध्यस्त माया के द्वारा कल्पना किया हुआ है। इस व्यावहारिक सत्य और चिद्घनरूप साक्षात् सत्य—दोनों ही का वेद ने वर्णन किया है, दूसरे पन्थ इनका वर्णन नहीं करते।'

अतोऽद्वितीयब्रह्मण एव परमार्थसत्यत्वेऽपि व्यावहारिकसत्यार्थत्वेनार्थवत्त्वान्न कर्मकाण्डाद्यप्रामाण्यमिति ॥१८॥

इस प्रकार यद्यपि अद्वितीय ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, तथापि व्यावहारिक सत्यरूप से सार्थक होने के कारण कर्मकाण्डादि अप्रामाणिक नहीं हैं ॥१८॥

चेतन में जड-चेतन विभाग की व्यवस्था

नन्वेवमपि जीवस्य भोक्तुस्तद्भोग्यजातस्य च ब्रह्ममात्रत्वेऽनुभूयमानभोक्तृभोग्यविभागो न स्यात्सर्वस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वाविशेषादित्याशङ्क्य मायावशादेव विभागोऽयमुपपद्यत इत्याह—

इस प्रकार भी तो जब भोक्ता जीव और उसके भोग्य विषय सब ब्रह्ममात्र ही हैं तो यह प्रतीत होने वाला भोक्ता और भोग्य का विभाग नहीं होना चाहिये, क्यों कि यह सभी समानरूप से ब्रह्म में अध्यस्त है। ऐसी आशंका करके यह बताते हैं कि यह विभाग माया के द्वारा ही बन सकता है—

जडाजडविभागोऽयमजडे मयि कल्पितः।
भित्तिभागे समे चित्रचराचरविभागवत् ॥१९॥

(समे) एक-जैसे (भित्तिभागे) भीत के भाग में (चित्रचराचरविभागवत्) चित्रलिखित चर और अचर वस्तुओं के विभाग के समान (मयि) मुझ (अजडे) चेतनस्वरूप में (अयम्) यह (जडाजड-विभाग) जड और चेतन का भेद (कल्पितः) माया के द्वारा आरोपित किया हुआ है ॥१९॥

जडाजडविभागो जडमिदं भोग्यमजडोऽयं भोक्तेति विभागोऽयं प्रतीयमानोऽजडेऽलुप्तचैतन्यस्वभावे मयि प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि कल्पितः, माययारोपित इत्यर्थः। स्वप्रकाशेऽप्येकस्मिन्ब्रह्मण्युपाधिप्राधान्याद्भोग्यजडकल्पना, उपाधेयप्राधान्यादजडभोक्तृकल्पनाप्युपपद्यते। तदुक्तं वार्तिककारैः—'तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम्। परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः॥' इति।

जडाजड विभाग—यह जड भोग्य है और यह चेतन भोक्ता है ऐसा प्रतीत होनेवाला विभाग मुझ अजड-प्रत्यगात्मा से अभिन्न नित्यचैतन्यस्वरूप ब्रह्म में कल्पित है अर्थात् माया से आरोपित है। स्वप्रकाश एक अद्वितीय ब्रह्म में भी उपाधि की प्रधानता से भोग्यरूप जड की कल्पना और उपाधेय (उपहित) की प्रधानता से भोक्ता चेतन की कल्पना हो सकती है। यह बात वार्तिककारजी ने भी कही है—'भावना (पूर्ववासनाओं), लौकिक, वैदिक ज्ञान और शुभाशुभ कर्मों के कारण एक परमात्मा ही तमोगुण प्रधान होकर शरीरों का और चित्प्रधान होकर चेतन जीवों का कारण बन जाता है।'

अजडे ब्रह्मणि सदृशविसदृशोभयकल्पने दृष्टान्तमाह—भित्तीत्यादिना। भित्तिभागे कुड्यप्रदेशे समे निर्विकारे, अचल इत्यर्थः। चराचरविभागवत् चरस्य गजादेरचरस्य पर्वतादेश्च विभागो यथा तथेत्यर्थः ॥१९॥

चेतन ब्रह्म में अपने ही समान (चेतन जीव) और अपने से असमान (जड भोग्यवर्ग) की कल्पना होने में दृष्टान्त देते हैं—'भित्तिभागे' इत्यादि से। समान—निर्विकार अर्थात् अचल भित्तिभाग में—भीत के एक अंश में चराचर विभाग की तरह; अर्थात् जैसे समान भित्तिभाग में हाथी आदि चल और पर्वत आदि अचल वस्तुओं के चित्रों का भेद देखा जाता है वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ॥१९॥

आत्मा की निर्विकारता एवं ब्रह्मरूपता

नन्वेवमात्मनो ब्रह्मत्वं न संभवति, तस्य संसारसाक्षितारूपविकल्पयुक्तत्वाद्ब्रह्मणश्च 'अस्थूलमनणु'

'नेति नेति' इत्यादिश्रुत्या निर्विकल्पकतया सिद्धेरित्याशङ्क्याह—

इस तरह भी तो आत्मा की ब्रह्मरूपता सम्भव नहीं है, क्यों कि वह संसारसाक्षितारूप विकल्प से युक्त है और ब्रह्म 'वह अस्थूल है अनरण है' 'यह (स्थूल) नहीं' (सूक्ष्म) नहीं' इत्यादि श्रुतियों से निर्विकल्प सिद्ध होता है। ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

चेत्योपरागरूपा मे साक्षितापि न तात्त्विकी।
उपलक्षणमेवेयं निस्तरङ्गचिदम्बुधेः ॥२०॥

(मे) **मेरी** (साक्षिता अपि) **साक्षिता भी** (चेत्योपरागरूपा) **चेत्य अर्थात् दृश्यवर्ग के उपराग—सम्बन्धरूप ही है** (तात्त्विकी) **वास्तविकी** (न) **नहीं है।** (अयम्) **यह** (निस्तरङ्गचिदम्बुधेः) **तरंगहीन चेतनसमुद्र का** (उपलक्षणम् एव) **उपलक्षणमात्र है ॥२०॥**

चेत्योपरागरूपा, चेत्यं कर्तृत्वादिप्रपञ्चः तेनोपरागः संबन्धः, तद्रूपा साक्षितापि साक्षित्वमपि मे मम प्रत्यगात्मनो न तात्त्विकी न परमार्थभूता चेत्यस्यापरमार्थतत्वेन तत्संबन्धिसाक्षितताया अपि परमार्थस्वरूपत्वायोगात्। किं त्वियं साक्षिता निस्तरङ्गचिदम्बुधेः, निस्तरङ्गा परमार्थतो निरस्तस्तरङ्गः कर्तृत्वादिप्रपञ्चरूपो यस्याः सा चिदेवाम्बुधिः समुद्रो निस्तरङ्गचिदम्बुधि, तस्य मे मम प्रत्यगात्मन उपलक्षणमेव तटस्था

सती ज्ञापिकैव, जगत्कारणत्वमिव ब्रह्मणः। तथा चात्मनो वस्तुतो निर्विकल्पत्वान्न ब्रह्मत्वानुपपत्तिरिति भावः ॥२०॥

चेत्योपरागरूपा—चेत्य है कर्तृत्वादिरूप प्रपञ्च; उससे उपराग—सम्बन्ध तद्रूपा ही मुझ प्रत्यगात्मा की साक्षिता भी है; यह तात्त्विकी अर्थात् परमार्थभूता नहीं है, क्यों कि चेत्यवर्ग अपारमार्थिक है इसलिये उससे सम्बन्ध रखने वाली साक्षिता की परमार्थस्वरूपता भी सम्भव नहीं है। किन्तु यह साक्षिता निस्तरंग चित्समुद्र की उपलक्षणमात्र है। निस्तरंग अर्थात् परमार्थतः जिसमें तरंगें—कर्तृत्वादिरूप प्रपञ्च नहीं है वह चेतन ही है अम्बुधि—समुद्र, ऐसे निस्तरंग चित्समुद्ररूप मुझ प्रत्यगात्मा की यह साक्षिता उपलक्षणमात्र है अर्थात् ब्रह्म की जगत्कारणता के समान यह तटस्थ रहकर मुझे जतलाने वाली ही है। इस प्रकार तात्पर्य यह है कि आत्मा के वस्तुतः निर्विकल्प होने के कारण उसकी ब्रह्मस्वरूपता में कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥२०॥

एवमुक्तेन प्रकारेण ब्रह्मणि जगत आत्मनि चाहंकारादेः कल्पितत्वेन वस्तुतोऽभावात्पदद्वयलक्ष्ये ब्रह्मणि न कश्चिदपि विकार इत्याह—

इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म में जगत् और आत्मा में अहंकारादि कल्पित होने के कारण वस्तुतः उनमें उनका अभाव ही है, अतः (तत् और त्वम्) इन दोनों पदों के लक्ष्य ब्रह्म में

किसी भी प्रकार का विकार नहीं है—यह बात अब कही जाती है—

अमृताब्देर्न मे जीर्णिर्मृषाडिण्डीरजन्मभिः ।
स्फटिकाद्रेर्न मे रागः स्वाप्नसंध्याभ्रविभ्रमैः ॥२१॥

(अमृताब्धेः) **अमृतसमुद्ररूप** (मे) **मेरी** (मृषाडिण्डीर-जन्मभिः) **मिथ्या फेनों के उत्पन्न होने से** (जीर्णिः) **हानि** (न) **नहीं है।** (स्फटिकाद्रेः) **स्फटिकपर्वतरूप** (मे) **मेरा** (स्वप्ना-सन्ध्याभ्रविभ्रमैः) **स्वप्नकल्पित सायंकालीन मेघों की भ्रान्ति से** (रागः) **कोई सम्बन्ध** (न) **नहीं है** ॥२१॥

अमृतो मोक्षरूपः स्वयंप्रकाशाद्वयानन्द एवाब्धि-स्तस्य, तत्पदलक्ष्यस्येत्यर्थः । मे मम प्रत्यगभिन्नब्रह्मणो मृषाडिण्डीरजन्मभिः, मृषारूपा मिथ्यारूपा वियदादय एव डिण्डीराः फेनास्तेषां यानि जन्मानि तैर्जन्मभिः । जन्मपदं नाशस्याप्युपलक्षणम् । न जीर्णिर्न हानि-र्वृद्धिर्वा । जीर्णिपदं वृद्धेरप्युपलक्षणम् । मिथ्यावस्तु-नोऽधिष्ठानादूषकत्वादित्यर्थः । ब्रह्मणि मायया वियदा-द्युत्पत्या तदधिष्ठानब्रह्मणो न हानिर्न वृद्धिरित्येतद्भा-रतीतीर्थैरपि कूटस्थदीपे भणितम्—'मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा । चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥' इति ।

अमृत अर्थात् मोक्षरूप स्वयंप्रकाश अद्वयानन्दस्वरूप जो

अब्धि—समुद्र उस 'तत्' पद के लक्ष्य मुझ प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की मिथ्या डिण्डीरों के जन्म से अर्थात् मिथ्या ही प्रतीत होनेवाले जो आकाशादि डिण्डीर—फेन हैं उनके जो जन्म अर्थात् उत्पत्ति उनसे कोई जीर्णि—हानि या लाभ नहीं हैं। यहां 'जन्म' पद नाश का भी उपलक्षण है तथा 'जीर्णि' पद वृद्धि को भी सूचित करता है। कारण कि मिथ्या वस्तु अधिष्ठान को दूषित करने वाली नहीं हुआ करती। ब्रह्म में माया से आकाशादि की उत्पत्ति होने से माया के अधिष्ठान ब्रह्म की कोई हानि या वृद्धि नहीं होती—यह बात श्रीभारतीतीर्थ ने भी [पञ्चदशी के] कूटस्थ दीप प्रकरण में कही है—'यह माया-रूपी मेघ जगत्‌रूपी जल को जैसे-तैसे वर्षा किया करे; किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इससे चिदाकाश की कोई हानि या लाभ नहीं है।'

त्वंपदलक्ष्यमपि शुद्धमित्याह—स्फटिकाद्रेरित्या-दिना । स्फटिकाद्रेः स्फटिकाद्रिवत्स्वच्छस्य मे मम प्रत्यगात्मनस्त्वंपदलक्ष्यस्य, स्वाप्नसंध्याभ्रविभ्रमैः, स्वाप्नोऽविद्याकल्पितोऽहंकारादिः, स एव संध्याभ्रं संध्याकालिकमेघः स्वसंनिहिते स्वच्छे स्वधर्मासञ्जक-त्वसाम्यात्; तत्कृतैर्विभ्रमैः कर्तृत्वादि भ्रान्तिभिः, मेघ-विषये विभ्रमाः अनवस्थाननिःसंचाराः; तै रागः संबन्धः, मेघविषय आरुण्यम् ।

अब 'स्फटिकाद्रेः' इत्यादि उत्तरार्ध से यह बताते हैं कि

'त्वम्' पद का लक्ष्य भी शुद्ध ही है। स्फटिकाद्रि—स्फटिक पर्वत के समान स्वच्छ मुझ प्रत्यगात्मा अर्थात् 'त्वम्' पद के लक्ष्य का स्वाप्नसन्ध्याभ्रविभ्रमों से—स्वाप्न अर्थात् अविद्या-कल्पित अहंकारादि, वे ही हैं सान्ध्याभ्र—सन्ध्याकाल के मेघ, क्योंकि अपनी समीपवर्ती स्वच्छ वस्तु में अपने धर्मों का आरोप करने में मेघों से उनकी समानता है, उन अहंकारादि से होने वाले विभ्रमों—कर्तृत्वादि भ्रान्तियों से कोई राग अर्थात् संबन्ध नहीं है। मेघों के पक्ष में उनका स्थिर न रहकर चलते रहना ही विभ्रम (विशेषरूप से भ्रमण करना) है तथा उनकी लालिमा ही राग है।

स्फटिकपर्वतस्यारुण्यवदात्मनश्चिद्रूपस्य परमार्थतः कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिसंबन्धो नास्तीत्यर्थः। अहंकारादिधर्मैरात्मनोऽसंबन्धोऽपि श्रीभारतीतीर्थैरेवाभाणि चित्रदीपे—'अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा। वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत्॥' इति। अतः पदद्वयलक्ष्यमपि चैतन्यमतिशुद्धमिति भावः॥२१॥

तात्पर्य यह कि सन्ध्याकालीन मेघों के द्वारा स्फटिक पर्वत जैसे वास्तव में अरुण नहीं होता उसी प्रकार चेतन-स्वरूप आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं राग-द्वेषादि से वास्तव में सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के साथ अहंकारादि का सम्बन्ध न होने की बात भी श्रीभारतीतीर्थजी ने चित्रदीप प्रकरण में कही है—'अहंकार में रहने वाले इच्छादि धर्मों से, देह में

रहनेवाली व्याधि आदि से अथवा वृक्षादि के जन्म या नाश से चेतनस्वरूप आत्मा के क्या हानि-लाभ हो सकते हैं?' अतः भाव यह है कि तत् और त्वम् इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ चैतन्य अत्यन्त शुद्ध है॥२१॥

आत्मा सत्स्वरूप है

नन्वेवमपि पदद्वयलक्ष्ये ब्रह्मण्यस्त्येव विकारः, तस्य परमार्थतः सत्त्वाश्रयत्वस्य वक्तव्यत्वात् अन्यथा शशविषाणवदसत्वप्रसंगादित्याशङ्क्याह—

किन्तु ऐसा होने पर भी दोनों पदों के लक्ष्यार्थ ब्रह्म में विकार तो मानना ही होगा, क्योंकि सत्त्व (सत्ता) की आश्रयता तो उसकी वास्तविकी ही बतलायी जाती है। नहीं तो, शशशृंग के समान वह असत् ही सिद्ध होगा। ऐसी शंका करके कहते हैं—

स्वरूपमेव मे सत्त्वं न तु धर्मो नभस्त्ववत्।
मदन्यस्य सतोऽभावान्न हि सा जातिरिष्यते॥२२॥

(नभस्त्ववत्) आकाशत्व के समान (सत्वम् तु) सत्ता तो (मे) मेरा (स्वरूपम्) स्वरूप (एव) ही है, (धर्मः) धर्म (न) नहीं। (मदन्यस्य) मुझ से भिन्न (सतः) सत् का (अभावात्) अभाव होने के कारण (सा) वह (जातिः) जाति (न हि) नहीं (इष्यते) मानी जाती॥२२॥

मे मम पदद्वयलक्ष्यस्य सत्वं स्वरूपमेव, न तु मदाश्रितो धर्मः। यथा सत्वस्य सत्वान्तराश्रयत्वाभावा-

न्नासत्वं तद्वदित्यर्थः। ननु घटे घटत्ववत्सद्रूप आत्मन्यपि धर्मरूपं सत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य घटेष्वनेकेषु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुगतव्यवहारसिद्धये घटत्वजातिरिव सद्व्यक्तिभेदाभावेनात्मनि सत्वरूपा जातिर्नाङ्गीकार्येत्याह—मदन्यस्येत्यादिना। मदन्यस्य पदद्वयलक्ष्यरूपात्मभिन्नस्य सतः सद्व्यक्त्यन्तरस्याभावात्सा सत्वरूपा जातिर्नेष्यते।

दोनों पदों के लक्ष्यरूप मुझ आत्मा का सत्ता स्वरूप ही है, वह मेरे आश्रित रहनेवाला धर्म नहीं है। जिस प्रकार किसी अन्य सत्ता का आश्रय न होने पर भी सत्व की असत्ता सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार सत्ता का आश्रय न होने से मेरी भी असत्ता नहीं हो सकती। यदि कहो कि घट में उसके धर्म घटत्व के समान सत्स्वरूप आत्मा में भी सत्व धर्मरूप से क्यों नहीं रहता ? तो इस पर कहते हैं कि अनेकों घटों में जैसे 'यह घट है, यह घट है' ऐसे अनुगत व्यवहार की सिद्धि के लिये घटत्व जाति रहती है उस प्रकार सत्-व्यक्तियों का भेद न होने के कारण सत् नाम की कोई जाति नहीं मानी जाती। इसी बात को 'मदन्यस्य' इत्यादि उत्तरार्ध से कहा है। मुझ से भिन्न अर्थात् दोनों पदों के लक्ष्यार्थरूप आत्मा से भिन्न सत् नाम का कोई व्यक्ति न होने के कारण सत्वरूपा कोई जाति स्वीकार नहीं की जाती।

एकव्यक्तौ जात्यनंगीकारे दृष्टान्तमाह—नभस्त्ववदिति। घटेष्वनेकेष्वनुगतव्यवहारार्थं घटत्वं जातिरंगीक्रियते। अत्र तु वियदादेः सर्वस्य मिथ्यात्वेन सदन्तरस्याभावान्नानुगतव्यवहारार्थं घटत्ववज्जातिरूपं सत्वमंगीक्रियते, किं तु स्वरूपमेव नभस्त्ववत्।

एक व्यक्ति में जाति स्वीकार न करने में दृष्टान्त देते हैं—आकाशत्व के समान। अनेक घटों में अनुगत व्यवहार की सिद्धि के लिये जाति स्वीकार की जाती है। यहां तो आकाशादि सभी मिथ्या होने के कारण कोई दूसरा सत् न होने के कारण अनुगत व्यवहार के लिये घटत्व की तरह कोई जातिरूप सत्व स्वीकार नहीं किया जाता। अपितु आकाशत्व के समान सत्व तो आत्मा का स्वरूप ही है।

ननु 'घटः सन्' 'पटः सन्' 'कुड्यं सत्' इत्यादिप्रतीत्यनुरोधेन घटपटाद्युपाधिभिन्नेषु सत्स्वनुगतव्यवहाराय सत्वं जातिरंगीक्रियतामिति चेत्; न, उपहितेषु सर्वेष्वनुगतब्रह्मरूपसन्मात्रेणैव घटाद्युपाधिभिन्नेष्वाकाशेष्वनुगतमहाकाशेनेवानुगतव्यवहारोपपत्तेः। तस्मान्न सत्वं जातिः। अत एव नोपाधिरपि, अनुगतव्यवहारायैव तस्यापि कल्पितत्वात्। सत्वस्य सन्मात्रब्रह्मरूपत्वं वसिष्ठेनाप्युक्तम्—'विशेषं संपरित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम्। एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्परं विदुः ॥' इति। तथा च सत्वस्य स्वरूपत्वेन धर्मत्वाभावादत्यन्तं शुद्धमेव पदद्वयलक्ष्यमिति भावः ॥२२॥

यदि कहो कि 'घट है', 'पट है', 'भित्ति है' इत्यादि प्रतीति के अनुरोध से घट-पट इत्यादि उपाधियों से अलग-अलग प्रतीत होने वाली सद्वस्तुओं में अनुगत व्यवहार के लिये सत्व को भी जाति मान लो, तो इसपर कहते हैं—नहीं, घटादि उपाधियों से भिन्न हुए आकाशों में अनुगत एक महाकाश के समान सम्पूर्ण उपहित वस्तुओं में अनुगत एक ब्रह्मरूप सन्मात्र से ही अनुगत व्यवहार की सिद्धि हो जाती है; इसलिये सत्व नाम की कोई जाति नहीं है। और इसी से वास्तव में उपाधि की भी सत्ता नहीं है, क्यों कि उसकी कल्पना भी केवल अनुगत व्यवहार के लिये ही हुई है। सत्व की सन्मात्र ब्रह्मस्वरूपता श्रीवसिष्ठजी ने भी कही है—'विशेष का निषेध करने पर जो असंग सन्मात्र रह जाता है और जो सत्ता का एकरस महान् रूप है उसी को परब्रह्म जानो।' इस प्रकार भाव यह कि सत्ता परब्रह्म का स्वरूप ही है, धर्म नहीं, अतः अत्यन्त शुद्ध वस्तु ही तत् और त्वम् इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ है ॥२२॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है

नन्वेवमप्यात्मनो ज्ञानाश्रयत्वमंगीकर्तव्यम्, अन्यथा घटादिवदनात्मत्वप्रसंगात्, ज्ञानाश्रयस्यैवात्मत्वात्, 'अहं जानामि' इत्यात्मनो ज्ञानाश्रयत्वप्रतीतेश्च; तथा च न 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादिश्रुत्या निर्गुणब्रह्मत्वमात्मन इत्यत आह——

ऐसा होने पर भी आत्मा को ज्ञान का आश्रय तो मानना

ही चाहिये, नहीं तो घट आदि की तरह उसके अनात्मत्व का प्रसंग उपस्थित होगा, क्यों कि ज्ञान का आश्रय ही आत्मा हो सकता है; तथा 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार आत्मा की ज्ञानाश्रयता प्रतीत भी होती है। अतः 'आत्मा साक्षी चेता अद्वितीय और निर्गुण है' इस श्रुति से आत्मा की निर्गुण ब्रह्मरूपता सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

स्वरूपमेव मे ज्ञानं न गुणः स गुणो यदि।
अनात्मत्वमसत्त्वं वा ज्ञेयाज्ञेयत्वयोः पतेत् ॥२३॥

(ज्ञानम्) ज्ञान तो (मे) मेरा (स्वरूपम् एव) स्वरूप ही है, (गुणः) गुण (न) नहीं। (स) वह (यदि) यदि (गुणः) गुण होगा तो (ज्ञेयाज्ञेयत्वयोः) उसकी ज्ञेयता अथवा अज्ञेयता स्वीकार करने पर (अनात्मत्वम्) उसकी अनात्मता (असत्वम् वा) अथवा असत्ता (पतेत्) प्राप्त होगी ॥२३॥

मे मम ज्ञानं चैतन्यं स्वरूपमेव न तु मदाश्रितो गुणः। कुत इत्यत आह——स गुणो यदीत्यादिना स चैतन्यम्। विधेयापेक्षया पुंलिङ्गनिर्देशः। चैतन्यं गुण इति वदन्वादी प्रष्टव्यः किं तेन चैतन्येनात्मा विषयीक्रियते न वेति।

ज्ञान अर्थात् चैतन्य मेरा स्वरूप ही है मेरे आश्रित रहने वाला गुण नहीं है। ऐसा क्यों है? इस पर कहते हैं—'स गुणो यदि' इत्यादि। 'वह चैतन्य गुण है' ऐसा कहने वाले वादी से पूछना चाहिये कि उस चैतन्यके द्वारा आत्मा विषय किया जाता

है या नहीं ? (यहां 'स गुणः' इस उक्तिमें नपुंसकलिंग 'चैतन्य शब्द के लिये 'सः' यह पुल्लिंग सर्वनाम इसके वाच्य 'आत्मा' की दृष्टि से किया गया है ।)

उभयथापि दूषणमाह—अनात्मत्वमिति । ज्ञेयाज्ञेयत्वयोः, आत्मनो वेद्यत्वेऽनात्मत्वं घटादिवत्, अवेद्यत्वे चासत्वं वा शशविषाणवदापतेत् भवेदित्यर्थः । यद्यात्मनः स्वसमवेतज्ञानाविषयत्वमुच्यते तदाज्ञायमानत्वेनात्मनोऽसत्वं स्यात् । न हि प्रमाणतोऽज्ञायमानं शशविषाणमस्तीति केनचित्प्रतिपद्यते । यद्येतद्दोषपरिजिहीर्षया तस्य ज्ञायमानत्वमुच्येत तदा घटादिवदनात्मत्वमात्मनः स्यात् ज्ञानविषयस्यानात्मत्वनियमात् ।

[आत्मा को चैतन्य का विषय मानें अथवा न मानें] दोनों ही प्रकारसे दोष उपस्थित होता है—यह बात 'अनात्मत्वम्' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं । ज्ञेय अथवा अज्ञेय होने पर अर्थात् आत्मा को यदि ज्ञेय माना जाय तो घटादि के समान उसकी अनात्मता प्राप्त होती है और यदि अज्ञेय माना जाय तो शशशृङ्गादि की तरह उसकी असत्ता निश्चित होती है । तात्पर्य यह कि यदि आत्मा अपने में समवाय संबन्ध से रहने वाले ज्ञान का अविषय कहा जाता है तो जाना न जा सकने के कारण वह असत् सिद्ध होता है, क्यों कि ऐसा कोई नहीं मानता कि प्रमाण के द्वारा न जाना जाने पर भी शशशृंग है ही । और यदि इस दोष की निवृत्ति के लिये उसे चैतन्य द्वारा ज्ञायमान

कहें तो घटादि के समान उसकी अनात्मता प्राप्त होती है क्यों कि यह नियम है कि ज्ञान का विषय अनात्मा ही होता है ।

नन्वात्माश्रितज्ञानेनात्माऽऽश्रयत्वेन भासते, न विषयत्वेन येन घटादिवदनात्मत्वं स्यादिति चेत् ।

शंका—आत्मा अपने आश्रित ज्ञान द्वारा आश्रयरूप से ही भासित होता है, न कि विषयरूप से, जिससे कि घटादि के समान उसकी अनात्मता प्राप्त हो ।

न, ज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञानाधीनप्रकाशस्य ज्ञानविषयत्वनियमेनात्मनोऽपि ज्ञानाधीनप्रकाशस्य विषयताया आवश्यकत्वेनानात्मत्वदोषतादवस्थ्यात् । न च ज्ञानाश्रयत्वमात्मत्वे प्रयोजकम्, लाघवाज्ज्ञानत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वात्, 'अहं जानामि' इति प्रतीतेश्चाहंकाराश्रयवृत्तिविषयत्वात् । न च 'ज्ञानं नष्टम्' 'ज्ञानमुत्पन्नम्' इति प्रतीत्या तस्य जन्मादिमत आत्मत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्, तस्या अपि वृत्तिविषयकत्वात् । तस्मादात्मनो न ज्ञानं गुणः, किं तु स्वरूपमेव ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, जो ज्ञान से भिन्न हो और जिसका प्रकाश ज्ञान के अधीन हो वह नियमतः ज्ञान का विषय ही होता है; अतः आत्मा का प्रकाश यदि ज्ञान के अधीन होगा तो उसकी ज्ञानविषयता भी अनिवार्य होगी और उसमें अनात्मा होने का दोष ज्यों का त्यों रहेगा । इसके

सिवा ज्ञान की आश्रयता आत्मा होने में निमित्त भी नहीं है, क्यों कि लाघव होने के कारण ज्ञानरूपता ही उसका वास्तविक निमित्त है। 'मैं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति तो अहंकार के आश्रित रहने वाली वृत्ति को ही विषय है। तथा ऐसा कहना भी ठीक नहीं कि 'ज्ञान नष्ट हुआ' 'ज्ञान उत्पन्न हुआ' ऐसी प्रतीति के कारण जन्मादिमान् ज्ञान की आत्मरूपता उपपन्न नहीं हो सकती, क्यों कि यह प्रतीति भी वृत्ति को ही विषय करने वाली है। अतः ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, अपितु स्वरूप ही है।

बादरायणोऽपि 'ज्ञोऽत एव' इत्यात्मनो ज्ञानरूपत्वं सूत्रयांबभूव। सूत्रार्थो विद्यारण्यगुरुभिरधिकरणरत्नमालयां दर्शितः—'अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते। चिदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता॥' इति पूर्वपक्षे प्राप्ते, सिद्धान्तमाह—'ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लुप्यते। द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपान्न हि द्रष्टुरिति श्रुतेः॥' इति।

महर्षि बादरायण ने भी 'ज्ञोऽत एव' (३।२।१८) इस सूत्र द्वारा आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही बताया है। इस सूत्र का अर्थ गुरुवर विद्यारण्यजी ने अधिकरणरत्नमाला में इस प्रकार प्रदर्शित किया है—'जीव चिद्रूप है या अचिद्रूप ? इसका विचार होने पर पूर्वपक्षी कहता है—उसे अचिद्रूप ही मानना चाहिये, क्यों कि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में चेतनत्व का अभाव है और जाग्रत् में जो चेतनता है वह तो मनःसंयोग के कारण है।' ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर अब सिद्धान्त बतलाते हैं—'ब्रह्मस्वरूप होने के कारण आत्मा चिद्रूप ही है। सुषुप्ति में भी चेतनता का लोप नहीं होता। उस अवस्था में जो द्वैत का अदर्शन है वह तो द्वैत का ही लय हो जाने के कारण है [चेतनता का लोप होने के कारण नहीं है] क्यों कि श्रुति* कहती है कि अविनाशी होने के कारण द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता।'

ननु ज्ञानरूप आत्मा स्वात्मानं जानाति न वा ? जानाति चेद्युगपत्कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गः, न चेज्जानाति तस्यासत्वप्रसंग इति चेत्।

शंका—अच्छा ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने को जानता है या नहीं ? यदि जानता है तब तो उसमें एक साथ कर्मत्व और कर्तृत्व रहने का प्रसंग उपस्थित होता है और यदि नहीं जानता तो उसकी असत्ता का प्रसंग प्राप्त होता है।

न, तस्य स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानान्तरमनपेक्ष्यैव भासमानत्वात्। नापि तस्य कर्मकर्तृत्वम्, स्वविषयत्वानंगीकारात्। तदुक्तं विद्यारण्यगुरुभिः पञ्चकोशविवेके—'स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यते। ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया॥' इति। यत्प्रसादाद्धि सर्वं जगद्भासते स कथं नास्ति न प्रका-

***श्रुति इस प्रकार है—न हि द्रष्टुः दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।**

शते वा ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्यों कि स्वप्रकाश होने के कारण वह ज्ञानान्तर की अपेक्षा के बिना स्वयं ही प्रकाशमान है। साथ ही, उसमें कर्मकर्तृत्वदोष भी नहीं है, क्यों कि उसमें स्वविषयता स्वीकार नहीं की जाती। यह बात गुरुवर विद्यारण्यजी ने [पंचदशी के] पञ्चकोश विवेक प्रकरण में कही है—'आत्मा स्वयं अनुभवस्वरूप होने के कारण विद्यमान तो है, किन्तु अनुभव का विषय नहीं होता। उससे भिन्न ज्ञाता और ज्ञान का अभाव है, इसी से वह अज्ञेय है, असत्ता के कारण नहीं।' भला, जिसके प्रसाद से ही सम्पूर्ण जगत् की प्रतीति होती है वह कैसे न होगा और कैसे उसका प्रकाश न होगा ?

आत्मनः सर्वावभासकत्वं स्वस्यान्यानपेक्षया भासमानत्वं चात्मयोगविशेऽप्युक्तम्—'अज्ञानतत्कार्यतदीयभेदानध्यक्षयन्ती निजसत्तयैव। स्मर्तुं च विस्मर्तुमहो न शक्या सुप्त्यादिषु स्वप्रभयास्मि सा चित्।।' इति। तस्मादात्मा ज्ञानरूपो न ज्ञानगुणक इति स निर्गुणं ब्रह्म भवेदिति भावः।।२३।।

आत्मा की सर्वावभासकता तथा अपने से भिन्न की अपेक्षा के बिना ही भासमानता आत्मयोगविंश में भी कही है—'जो अज्ञान, अज्ञान के कार्य और उनके भेदों को अपनी सत्तामात्र से प्रकाशित करती है, जो स्मरण या विस्मरण भी नहीं की जा सकती और जो सुषुप्ति आदि में स्वप्रकाश रूप से विद्यमान रहती है वह चिच्छक्ति ही मैं हूं।' अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानगुणवाला नहीं। इसलिए भाव यह है कि वह निर्गुण ब्रह्म ही है।।२३।।

आत्मा आनन्दस्वरूप है

एवमात्मन आनन्दोऽपि न गुणः किं तु स्वरूपमेवेति साधयति——

इसी प्रकार आनन्द भी आत्मा का गुण नहीं, किन्तु स्वरूप ही है—यह बात अब सिद्ध करते हैं—

अहमेव सुखं नान्यदन्यच्चेन्नैव तत्सुखम्।
अमदर्थं न हि प्रेयो मदर्थं न स्वतः प्रियम्।।२४।।

(अहम्) मैं आत्मा (एव) ही (सुखम्) सुख हूँ (अन्यत्) सुखगुणवाला (न) नहीं। (अन्यत्) आत्मा से भिन्न गुण (चेत्) यदि सुख हो तो (तत्) वह (सुखम्) सुख (एव) ही (न) नहीं हो सकता। (हि) क्यों कि (अमदर्थम्) जो आत्मा के लिए न हो वह (प्रेयः) प्रेमास्पद (न) नहीं हो सकता और (मदर्थम्) जो आत्मार्थ हो वह भी (स्वतः) स्वयं (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं हो सकता।।२४।।

अहमात्मा सुखमेव सुखस्वरूप एव न तु सुखगुणकः। यदि सुखमात्मनोऽन्यद् गुणः स्यात्, तत्सुखत्वेनाभिमतं नैव सुखं स्यात्। कुत इति चेत्, किं तदनात्मभूतसुखमनात्मशेषः, उत तच्छेषो वा ? नाद्य इत्याह——अमदर्थमिति। चेदित्यनुषंगः। अमदर्थमात्म-

शेषो न चेत्तर्हि न तत्प्रेयः प्रीतिविषयो न भवेत् अनात्मशेषसर्पादौ प्रीतिविषयत्वादर्शनात् ।

मैं आत्मा सुख अर्थात् सुखस्वरूप ही हूँ, सुख गुणवाला नहीं । यदि सुख आत्मा से भिन्न कोई गुण हो तो सुखरूप से मानी हुई वह वस्तु वास्तव में सुख ही नहीं हो सकती । यदि कहो कि क्यों ? तो बताओ, वह अनात्मभूत सुख अनात्मा का शेष होगा या आत्मा का शेष ? इनमें पहला पक्ष तो हो नहीं सकता—यह बात 'अमदर्थम्' इत्यादि से कहते हैं । 'अमदर्थम्' के आगे 'चेत्' यह पद जोड़ लेना चाहिये । यदि वह (सुखगुण) अमदर्थ हो अर्थात् आत्मा का शेष न हो तो वह प्रेय—प्रीति का विषय नहीं होगा, क्यों कि अनात्म शेष सर्पादि में प्रीति की विषयता नहीं देखी जाती ।

न द्वितीय इत्याह—मदर्थमिति । अत्रापि चेदित्यनुषज्यते । मदर्थमात्मशेषश्चेत्स्वतः प्रियं न स्यात्, आत्मशेषस्य पुत्रभार्यादेः स्वतः प्रीतिविषयत्वादर्शनादित्यर्थः । सुखं हि सर्वेषां प्रियं भवति; तच्च स्वत एव प्रियं न परोपाधिना; अत आत्मैव भवितुमर्हति ।

अब 'मदर्थम्' इत्यादि से यह बताते हैं कि दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है । यहां भी 'मदर्थम्' के आगे 'चित्' पद जोड़ लेना चाहिये । मदर्थ अर्थात् आत्मा का शेष होगा तब भी वह स्वतः प्रिय नहीं हो सकेगा, क्यों कि आत्मा के शेष पुत्र-स्त्री आदि की स्वतः प्रीतिविषयता नहीं देखी जाती—ऐसा इसका तात्पर्य है । सुख तो सभी को प्रिय होता है और वह स्वतः ही प्रिय होता है, किसी अन्य उपाधि आदि के कारण नहीं । अतः वह आत्मा ही होना चाहिये ।

कथमिति चेच्छृणु । जगति सर्वेषां पदार्थानां चतुर्धावस्थितिः—आत्मा प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेति । सुख तावन्न व्याघ्रादिवदप्रियम्, तस्य सर्वैः प्रार्थ्यमानत्वात्; अत एव न लोष्टादिवदुपेक्ष्यम्; नापि प्रियमात्रम्, तच्छेषे पुत्रभार्यादावपि तद्दर्शनात्; अतः परिशेषादात्मैव ।

यदि कहो 'कैसे ?' तो सुनो—संसार में सम्पूर्ण पदार्थों की स्थिति चार प्रकार से है—आत्मा, प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य । सुख इनमें से व्याघ्रादि के समान अप्रिय तो है नहीं, क्यों कि सभी उसकी इच्छा करते हैं । इसी से वह ढेले आदि की तरह उपेक्ष्य भी नहीं हो सकता । और न उसे केवल प्रिय ही कह सकते हैं, क्यों कि उसके शेषभूत पुत्र-स्त्री आदि में भी प्रियता तो देखी जाती है । अतः परिशेषतः वह आत्मा ही हो सकता है ।

नन्वात्मशेषत्वेन तस्य प्रीतिविषयत्वं किं न स्यादिति चेत् ।

शंका—अच्छा तो, आत्मा का शेष होने से ही उसकी प्रीतिविषयता क्यों न मानी जाय ?

तर्हि वक्तव्यमात्मनि प्रीतिः किंनिमित्तेति, येन

सुखमपि तच्छेषतया प्रियं जायते । सुखसाधनत्वादिति चेत्; तर्हि सुखसाधनेनात्मनोपकार्यः कश्चिद्वक्तव्यः, स्रक्चन्दनादिसुखसाधनेनान्यस्यैवोपकार्यत्वदर्शनात्, आत्मनि च कर्मकर्तृविरोधात् स चोपकार्योऽन्यो न दृश्यते । तस्मान्न सुखसाधनतयात्मा प्रियः, किं तु सुखस्वरूपतया । तस्मान्नात्मशेषतया सुखस्यापि प्रियत्वम्, किं त्वात्मतयैव ।

समाधान—तब यह बतलाइये कि आत्मा में प्रीति किस निमित्त से है, जिससे कि सुख भी आत्मा का शेष होकर प्रिय हो रहा है ? यदि कहो कि सुख का साधन होने से आत्मा में प्रीति है, तो यह बतलाना चाहिये कि सुख का साधन होकर आत्मा किसका उपकार करता है; क्यों कि माला, चन्दन आदि जो सुख के साधन हैं उनका उपकार्य उनसे भिन्न ही देखा जाता है । यदि आत्मा ही आत्मा का उपकार्य माना जाय तो उसमें स्वयं ही कर्म और कर्ता होने का विरोध उपस्थित होगा । और आत्मा से भिन्न उसका कोई और उपकार्य देखा नहीं जाता । अतः आत्मा सुख का साधन होने से प्रिय नहीं, किन्तु सुखस्वरूप होने से ही प्रिय है । और इसी से सुख की प्रियता भी आत्मा का शेष होनेके कारण नहीं, अपितु आत्मस्वरूप होने के कारण ही है ।

ननु 'सुखमुत्पन्नम्, नष्टम्' इति प्रतीयमानस्य कथमात्मत्वमिति चेत् ।

शंका—'सुख उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ' ऐसा प्रतीत होने के कारण यह आत्मस्वरूप कैसे हो सकता है ?

न, तस्य तद्व्यञ्जकवृत्तिविषयत्वात् । सर्वमेतदुक्तं ब्रह्मानन्दे—'आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि । आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।। इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् । सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रिया ।। आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः । अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ।।' इत्यादि ।

समाधान—ये उत्पत्ति और नाश सुख के नहीं, प्रत्युत उसे अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति के हैं । यह सब बात [पञ्चदशी के] ब्रह्मानन्द प्रकरण में कही है—'आत्मा, शेष, उपेक्ष्य और द्वेष इन चार प्रकार की वस्तुओं में आत्मा परम प्रेमास्पद है, आत्मा की शेषभूत वस्तुएँ प्रिय हैं तथा उनसे भिन्न पदार्थ उपेक्ष्य एवं द्वेष हैं । सम्पूर्ण लोक इन चार कोटियोंमें ही व्यवस्थित है और यही याज्ञवल्क्यजी का भी मत है । सुखसाधनतारूप उपाधि के कारण अन्नपान आदि प्रिय हैं । यदि कहो कि अनुकूल होने के कारण आत्मा भी अन्न-पान आदि के समान ही है, तो यह बताओ कि आत्मा किस के प्रति अनुकूल होता है । [यदि उसे अपने ही अनुकूल कहा जाय तो] एक ही आत्मा में कर्म और कर्ता दोनों भाव रह नहीं सकते ।' इत्यादि ।

आत्मनः सुखरूपत्वं सर्वज्ञात्ममुनिभिरप्युक्तम्—'सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किंचित्पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव । तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञास्तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखतास्थ तस्मात् ॥' इति । ब्रह्मगीतासु च—'प्रत्यग्रूपः शिवः साक्षात्परमानन्दलक्षणः । परप्रेमास्पदत्वेन प्रतीतत्वात्सुरर्षभाः ॥ सर्वस्यैव तु कामाय न सर्वं भवति प्रियम् । किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् । अतो देवाः प्रियतमो ह्यात्मा न सुखलक्षणः ।' इत्यादि ।

आत्मा की सुखस्वरूपता का वर्णन श्रीसर्वज्ञात्ममुनिजी ने भी किया है—'यहां जो भी वस्तुएँ हैं वे जिसके लिये हैं और जो स्वयं अपनी ही सत्तामात्र से परार्थता से रहित है, सुख का लक्षण जाननेवाले उसी को सुख कहते हैं। ऐसी बात प्रत्यगात्मा में ही है, अतः उसकी सुखस्वरूपता निश्चित होती है।' ब्रह्मगीता में भी कहा है—'हे देवश्रेष्ठो ! परम प्रेमास्पद होने के कारण प्रत्यगात्मस्वरूप शिव परमानन्दरूप है। सभी वस्तुएं उन सब वस्तुओं के लिये ही प्रिय नहीं होतीं, किन्तु अपने (आत्मा के) लिये ही प्रिय होती हैं, अतः स्वयं आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है। इसलिये हे देवगण ! आत्मा ही प्रियतम है, वह सुखरूप धर्मवाला नहीं है।' इत्यादि।

तस्माद्युक्त्या विद्वदनुभूत्या बहुविदां वचनैश्चात्मा सुखरूप इत्यत्र न कश्चिद्विवाद इति भावः ॥२४॥

इस प्रकार युक्ति से, विद्वानों के अनुभव से और बहुज्ञों के वचनों से आत्मा सुखरूप ही सिद्ध होता है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥२४॥

ब्रह्म की अखण्डैकरसता

नन्वेवमपि ब्रह्मणः 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रुत्युक्तमखण्डैकरसत्वं न संभवति, उक्तप्रकारेण तस्य सच्चिदानन्दरूपत्रयात्मकत्वात्; न च सच्चिदानन्दानां तेषां त्रयाणामप्यत्यन्ताभेद इति वाच्यम्, तथात्वे तद्वाचकानां सच्चिदानन्दशब्दानां त्रयाणामपि पर्यायतया सहप्रयोगानुपपत्तेः; न हि घटकुम्भकलशादिशब्दानामेकार्थवाचकानां सहप्रयोगोऽस्ति ।

शंका—ऐसा होने पर भी 'यह आत्मा एक (विज्ञानघन) रूप से ही साक्षात्कार करने योग्य है' इस श्रुति में कही हुई ब्रह्म की अखण्डैकरसता तो सम्भव है नहीं, क्यों कि उक्त प्रकार से वह सत्, चित् और आनन्द तीन प्रकार का सिद्ध होता है। यह भी कहा नहीं जा सकता कि सत्, चित् और आनन्द इन तीनों का अत्यन्त अभेद है, क्योंकि ऐसा होने पर तो उनके वाचक सत्, चित् और आनन्द ये तीनों शब्द पर्याय होने के कारण एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकेंगे। एक ही अर्थ के वाचक घट, कुम्भ, कलश आदि शब्दों का कहीं एक साथ प्रयोग नहीं देखा जाता।

इत्याशङ्क्य ब्रह्मणोऽखण्डैकरसत्वमुपपादयति——

ऐसी शंका करके अब ब्रह्म की अखण्डैकरसता का उपपादन करते हैं—

न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन।
तस्मादखण्ड एवास्मि विजहज्जागतीं भिदाम्॥२५॥

(हि) **क्योंकि** (एकम्) **एक** (वस्तु) **वस्तु** (कदाचन) **कभी** (नानास्वरूपम्) **अनेक रूपवाली** (न) **नहीं** (स्यात्) **होती।** (तस्मात्) **इसलिये मैं** (जागतीम्) **जगत्रूप उपाधि के किये हुए** (भिदाम्) **भेद को** (विजहत्) **त्यागकर** (अखण्डः) **अखण्ड एकरस** (एव) **ही** (अस्मि) **हूँ** ॥२५॥

एकमद्वितीयं सच्चिदानन्दात्मकं वस्तु ब्रह्म कदाचन कदाचिदप्युपाधिकाले तदभावकालेऽपि नानास्वरूपं नानारसं न स्यान्न भवेदित्यर्थः। तत्र हेत्वभिप्रायेण वस्त्विति विशेषणम्। यतो वस्तु परमार्थभूतं तत इत्यर्थः। वस्तुग्रहणं ज्ञानानन्दयोरप्युपलक्षणम्।

एक अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप वस्तु ब्रह्म कभी—उपाधिकाल में या उपाधि के अभावकाल में नानास्वरूप अर्थात् अनेकरस नहीं होता। यहां 'वस्तु' यह विशेषण सहेतुक अभिप्राय से है। तात्पर्य यह—क्योंकि ब्रह्म वस्तु अर्थात् परमार्थभूत (सत्) है इसलिये [वह अनेक रस नहीं हो सकता]। यहां वस्तु (सत्) शब्द का ग्रहण ज्ञान और आनन्द का भी उपलक्षण है।

अयमर्थः—ब्रह्मणि सत्यज्ञानानन्दानां परस्परभिन्नत्वे सत्यस्य सत्यत्वं ज्ञानस्य ज्ञानत्वमानन्दस्यानन्दत्वं च न सिध्येत्; कथमिति चेत्, सत्यं यदि ज्ञानाद्भिन्नं स्याज्जडस्य तस्य शुक्तिरूप्यादेरिव सत्यत्वं न स्यात्, एवं यदि ज्ञानमपि सत्याद्भिन्नं स्यादसत्यस्य तस्य ज्ञानस्य जडत्वनियमेन ज्ञानत्वं न स्यात्, ततः सत्यज्ञानयोः सत्यत्वज्ञानत्वसिद्धयेऽत्यन्तं परस्पराभेदोऽङ्गीकर्तव्यः। तदुक्तं सर्वज्ञात्ममुनिभिः——'सत्येऽप्यस्ति ज्ञानता ज्ञानतायां सत्यत्वं च स्पष्टमस्त्येव तद्वत्। सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः॥' इति॥

इसका तात्पर्य यह है—यदि ब्रह्म में सत्य ज्ञान और आनन्द परस्पर भिन्न होंगे तो सत्य की सत्यता, ज्ञान की ज्ञानता और आनन्द की आनन्दता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि पूछो, 'किस प्रकार ?' तो सुनो—यदि सत्य ज्ञान से भिन्न होगा तो जडरूप होने के कारण सीपी में प्रतीत होने वाली चांदी के समान उसकी सत्यता भी सिद्ध नहीं होगी। इसी प्रकार यदि ज्ञान भी सत्य से भिन्न होगा तो असत्यरूप होने से वह ज्ञान नियमतः जड होने के कारण उसकी ज्ञानता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसलिये सत्य और ज्ञान की सत्यता और ज्ञानता की सिद्धि के लिये उनका परस्पर अत्यन्त अभेद स्वीकार करना चाहिये। यह बात श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने भी कही है—'सत्य में भी ज्ञानता है और इसी तरह ज्ञानता में भी

स्पष्ट ही सत्यता है। ऐसा होने पर भी उनमें किसी प्रकार के अतिरेक [भेद] का अवकाश नहीं है, क्यों कि पूर्णतत्त्व में ज्ञान और सत्य की [अभेदरूप से] उपपत्ति हो जाती है।'

एवं यदि ज्ञानादानन्दोऽपि भिन्नः स्याज्ज्ञानभिन्नस्य तस्य घटादिवदनानन्दत्वमेव स्यात्, तथानन्दादपि यदि ज्ञानं भिन्नं स्यादानन्दभिन्नस्य तस्य घटादिवज्जडत्वेन ज्ञानत्वमेव न स्यात्; ततो ज्ञानानन्दयोरपि ज्ञानत्वानन्दत्वसिद्धयेऽत्यन्तमभेदोऽङ्गीकर्तव्यः । इदमपि तैरेवोक्तम्—'आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानतायामानन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम् । सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः ॥' इति ॥

इसी प्रकार आनन्द भी यदि ज्ञान से भिन्न होगा तो ज्ञान से भिन्न उस आनन्द को घटादि के समान अनानन्दता ही सिद्ध होगी। और यदि आनन्द से भी ज्ञान भिन्न होगा तो आनन्द-भिन्न ज्ञान घटादि के समान जड होने के कारण ज्ञानरूप ही न हो सकेगा। अतः ज्ञान और आनन्द के ज्ञानत्व एवं आनन्दत्व की सिद्धि के लिये उनका भी अत्यन्त अभेद ही स्वीकार करना चाहिये। यह बात भी उन श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने ही कही है—'आनन्दता में ज्ञानता और ज्ञानता में आनन्दता निःसन्देह रूप से विद्यमान है। ऐसा होने पर भी उनमें किसी प्रकार के भेद का अवकाश नहीं है, क्यों कि पूर्णतत्त्व में ज्ञान और आनन्द की अभेदरूप से उपपत्ति हो सकती है।'

एवं सत्यादानन्दोऽपि यदि भिन्नः स्यादसत्यस्य तस्य शुक्तिरूप्यादेरिवानन्दत्वं न स्यात्; एवं सत्यमपि यद्यानन्दाद्भिन्नं स्यादनानन्दस्य तस्य शुक्तिरूप्यादेरिव सत्यत्वं न स्यात्; ततः सत्यानन्दयोरप्यत्यन्तमभेदो वक्तव्यः। इदमपि तैरेवोक्तम्—'आनन्दत्वे सत्यता सत्यतायामानन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम् । सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः ॥' इति ॥

इसी प्रकार यदि आनन्द भी सत्य से भिन्न होगा तो [सत्य से भिन्न] उस असत्य आनन्द की शुक्ति-रजत के समान आनन्दता ही सिद्ध न होगी। इसी तरह यदि सत्य भी आनन्द से भिन्न होगा तो आनन्दरूप उस सत्य की शुक्ति-रजत के समान सत्यता नहीं रहेगी। इसलिये सत्य और आनन्द का भी अत्यन्त अभेद ही कहना चाहिये। यह बात भी उन्हीं की कही हुई है—'आनन्दता में सत्यता और सत्यता में आनन्दता निर्विवादरूप से प्रसिद्ध है। ऐसा होने पर भी उनके भेद का कोई अवकाश नहीं है; क्यों कि पूर्णतत्त्व में सत्य और आनन्द की अभेदरूप से उपपत्ति हो सकती है।'

नित्यमुक्तशुद्धत्वादिष्वप्येवमेवोह्यम् । न च तेषामत्यन्ताभेदे तद्वाचकसत्यादिपदानां पर्यायता वाच्या, अर्थानां भेदस्याङ्गीकारात्; सत्यपदं मुख्यामुख्यसत्यरूपब्रह्माकाशशबलरूपे सत्ये व्युत्पन्नम्, ज्ञानपदं च चैतन्यान्तःकरणवृत्तिरूपमुख्यामुख्यज्ञानद्वयशबलरूपे ज्ञाने

व्युत्पन्नम्, आनन्दपदं च प्रत्यग्बुद्धिवृत्तिरूपमुख्यामुख्यानन्दे व्युत्पन्नम् । एवं नित्यशुद्धादीन्यपि पदानि मुख्यामुख्यलत्तद्द्वयशबलरूपे तस्मिंस्तस्मिन्व्युत्पन्नानीति द्रष्टव्यम् । एतत्सर्वं सर्वज्ञात्ममुनिभिरेवोक्तम्–'आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या । तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ।। बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या । तत्संपर्कज्ज्ञानता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र ।। बुद्धेर्वृत्तौ तावदानन्दतैका प्रत्यङ्मात्रे काचिदानन्दतान्या । तत्संपर्कात्काचिदानन्दतान्या व्युत्पन्नोऽयं तत्र चानन्दशब्दः' इत्यादिना । ततो वाच्यार्थभेदस्याङ्गीकारान्न पदानां पर्यायतापीति भावः ।

नित्यता, मुक्तता और शुद्धता आदि में भी इसी प्रकार अभेद समझना चाहिये। तथापि उनका अत्यन्त अभेद होने पर भी उनके वाचक सत्य आदि पदों को पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता, क्यों कि उनके अर्थों का भेद तो माना ही गया है। 'सत्य' पद मुख्य (पारमार्थिक) और अमुख्य (व्यावहारिक) सत्यरूप ब्रह्म और आकाश से जिसका रूप मिला-जुला है उस (शबल ब्रह्मस्वरूप) सत्य का उल्लेख करता है, 'ज्ञान' पद चैतन्य और अन्तःकरण की वृत्तिरूप जो मुख्य और अमुख्य ज्ञान हैं उन दोनों से शबलित ज्ञान का वाचक है तथा 'आनन्द' पद प्रत्यगात्मा एवं बुद्धिवृत्तिरूप मुख्य और अमुख्य

आनन्द का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार नित्य, शुद्ध आदि जो पद हैं वे भी अपने-अपने मुख्य और अमुख्य दो प्रकार के रूपों से युक्त उन-उन अर्थों का निर्देश करने वाले हैं—ऐसा समझना चाहिये। यह सब बात भी श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने ही कही है—'आकाशादि में तो एक प्रकार की (अमुख्य) सत्यता है और प्रत्यगात्मा में दूसरे ही प्रकार की (मुख्य) सत्यता है तथा इनके [अन्योन्याध्यासरूप] संसर्ग से जो [इन दोनों का एकीकरण करने वाली शबलब्रह्मरूपा] अन्य प्रकार की सत्यता है उसी में यह 'सत्य' पद सार्थक है। बुद्धि वृत्ति में तो एक प्रकार की ज्ञानता है और प्रत्यग्बोध (चिदात्मा) में दूसरे प्रकार की ज्ञानता है तथा इनके सम्पर्क से जो एक अन्य प्रकार की ज्ञानता है उसी में यह 'ज्ञान' शब्द चरितार्थ है। बुद्धि की वृत्ति में तो एक प्रकार की आनन्दता है और प्रत्यगात्मा में एक दूसरे ही प्रकार की आनन्दता है तथा इनके सम्पर्क से जो एक अन्य प्रकार की आनन्दता है उसी में यह 'आनन्द' पद व्युत्पन्न होता है।' इत्यादि। अतः भाव यह कि वाच्यार्थों का भेद माना जाने के कारण इन पदों में पर्यायता नहीं हो सकती।

ननु कथं तर्हि वाच्यार्थभेदे सत्यादीनामत्यन्ताभेद उक्त इत्याशङ्क्य वाच्यार्थभेदेऽपि तल्लक्ष्यार्थानामभेदादित्याह—तस्मादित्यादिना। यस्मात्सत्यादीनां परस्पराभेदेन सत्यादिरूपत्वं यस्माच्च न पर्यायता तस्मात्, जागतीं भिदाम्, जगदाकाशाद्युपाधिस्तत्प्रयुक्तां भिदां

भेदं विजहदहमखण्ड एवास्मि, एकरस एवास्मि न तु नानारसः। सत्यादिपदैर्भागलक्षणया बोधितसत्याद्यात्मकाखण्डैकरसोऽस्मीत्यर्थः । अतः 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रुत्युक्तमेकरसत्वमुपपन्नमिति भावः।

यदि कहो कि वाच्यार्थों का भेद रहने पर इन सत्यादि का अत्यन्त अभेद कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर 'तस्मात्' इत्यादि से यह देते हैं कि लक्ष्यार्थों का अभेद होने के कारण उनका अभेद है। क्यों कि सत्यादि का आपस में अभेद होने से ही उनकी सत्यादिरूपता है और पर्यायता भी है नहीं, अतः जगत्सम्बन्धी भेद अर्थात् जगत् जो आकाशादि उपाधि है उससे प्रतीत होनेवाले भेद को त्यागकर मैं अखण्ड अर्थात् एकरस ही हूँ, अनेक रस नहीं हूँ। तात्पर्य यह कि सत्यादि पदों से भागत्याग लक्षणा के द्वारा बोधित मैं सत्यादिस्वरूप अखण्डैकरस ही हूँ। इसलिये 'आत्मा का एकरूप में ही साक्षात्कार करना चाहिये' इस श्रुति में कही हुई आत्मा की एक रसता ठीक ही है—ऐसा इसका भाव है ॥२५॥

महावाक्यार्थ-विवेचन

इदानीमुक्तप्रकारेण जीवस्य ब्रह्मत्वोपपादकैस्तर्कैरनुगृहीतं सत्तत्त्वमस्यादिवाक्यं जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदं भागत्यागलक्षणया बोधयतीत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि उक्त प्रकार से जीव की ब्रह्मरूपता का उपपादन करनेवाली युक्तियों से अनुगृहीत हुआ 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य भागत्यागलक्षणा से आत्मा और ब्रह्म का अत्यन्त अभेद ही बोधित करता है—

परोक्षतापरिच्छेदशाबल्यापोहनिर्मलम्।
तदसीति गिरा लक्ष्यमहमेकरसं महः ॥२६॥

(अहम्) शुद्ध चिद्रूप मैं (परोक्षतापरिच्छेदशाबल्यापोहनिर्मलम्) क्रमशः ईश्वर और जीव में रहने वाले परोक्षता एवं परिच्छिन्नत रूप सम्बन्धों के बाध से शुद्ध (तदसीति गिरालक्ष्यम्) 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का लक्ष्यार्थ (एकरसम्) अखण्डैकरसस्वरूप (महः) सदानन्दमय चैतन्य हूँ ॥२६॥

परोक्षता च परिच्छेदश्च तत्प्रयोजकं शाबल्यं च तानि तथोक्तानि, तेषामपोहेन निर्मलं परोक्षतापरिच्छेदशाबल्यापोहनिर्मलम्। परोक्षता परोक्षत्वमीश्वरस्य, परिच्छेदः परिच्छिन्नत्वं जीवस्य। एतद्वयं च जीवेश्वरोभयगतविरुद्धधर्माणां सर्वेषामप्युपलक्षणम्। शाबल्यं जीवेश्वरोभयगतपरोक्षत्वपरिच्छिन्नत्वादिप्रयोजकमायान्तःकरणरूपोपाधिनिमित्तसमस्तसंबन्धः। तेषामपोहेन त्यागेन निर्मलं शुद्धम्। ऐक्याविरोधीत्यर्थः। तदसीति गिरा तत्त्वमस्यादिमहावाक्येन लक्ष्यं जहदजहल्लक्षणया बोध्यम्। लक्ष्यस्वरूपमेवाह—एकरसमिति। महः सत्यानन्दचैतन्यरूपमहं प्रत्यगात्मास्मीत्यर्थः।

परोक्षता और परिच्छेद तथा इनका प्रयोजक शाबल्य (उपाधिजनित सम्बन्ध)—ये पहले कहे ही जा चुके हैं; इनके बाध से जो निर्मल है वही है परोक्षतापरिच्छेदशाबल्यापोह-

निर्मल। परोक्षता—इन्द्रियों की अविषयता ईश्वर का और परिच्छेद—सीमाबद्धता जीव का स्वभाव है। ये दोनों जीव और ईश्वर में विद्यमान सभी विरुद्ध धर्मों के उपलक्षण हैं। जीव और ईश्वर इन दोनों में रहनेवाले परोक्षत्व एवं परिच्छिन्नत्व आदि धर्मों के प्रयोजक जो माया और अन्तःकरण-रूप उपाधियों के कारण होनेवाले सम्पूर्ण सम्बन्ध हैं वे ही हैं शाबल्य। उनके अपोह—त्याग के द्वारा निर्मल—शुद्ध अर्थात् एकता का अविरोधी तथा 'तदसीति गिरा' 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से लक्ष्य अर्थात् भागत्यागलक्षणा के द्वारा ज्ञातव्य है। उस लक्ष्य का स्वरूप ही बतलाते हैं—'एकरसं महः'—सत्य आनन्द एवं चैतन्यरूप मैं प्रत्यगात्मा हूँ—ऐसा इसका तात्पर्य है।

अत्राप्यनुग्राहकयुक्तिः पूर्ववद्द्रष्टव्या—यद्यात्मा ब्रह्मभिन्नः स्यादात्मनः सर्वान्तरत्वलक्षणमात्मत्वं न स्यात्, एवं ब्रह्मापि यद्यात्मभिन्नं स्यान्निरतिशयमहत्त्वलक्षणं ब्रह्मत्वं ब्रह्मणो न स्यात्। इदमपि तैरेवोक्तम्—'अद्वैतेऽर्थे प्रत्यगर्थोऽस्ति तद्वत्प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्यापि भावः। यद्यप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्ते॥' इति॥

पहले की तरह यहां भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करनेवाली इस युक्ति पर ध्यान देना चाहिये—यदि आत्मा ब्रह्म से भिन्न होगा तो आत्मा में सर्वान्तरत्वरूप आत्मता नहीं रहेगी। इसी

प्रकार ब्रह्म भी यदि आत्मा से भिन्न होगा तो ब्रह्म में निरतिशय महत्तारूप ब्रह्मत्व भी नहीं रहेगा।* यह बात उन श्री सर्वज्ञात्ममुनि ने ही कही है—'अद्वय पदार्थ ब्रह्म में प्रत्यगात्मा है और इसी प्रकार प्रत्यक् तत्त्व में अद्वैत ब्रह्मता भी है। यदि ऐसा है तो भेद का कोई अवकाश नहीं है, एक पूर्णतत्त्व में तत् और त्वम् दोनों ही का अर्थ उपपन्न हो जाता है।'

वाच्यार्थभेदादेवोभयोस्तत्त्वंपदयोरपर्यायतापि। इदमपि तैरेवोक्तम्—'आदेयांशे नाणुमात्रोऽपि भेदो यद्यप्येवं भिन्नमादाय शब्दौ। वर्तेते त्वय्यद्वयात्मप्रकाशे बाह्यं हातुं जामिता नास्ति तस्मात्॥ इति॥

वाच्यार्थ का भेद होने के कारण तत् और त्वम् पद की पर्यायिता भी नहीं है। यह बात भी उन्हीं ने कही है—'ग्राह्य (लक्ष्य) अंश में अणुमात्र भी भेद नहीं है। यद्यपि ऐसी बात है, तथापि भिन्न-भिन्न वाच्यार्थों को लेकर तत् और त्वम् पद अद्वय आत्मचैतन्यस्वरूप आप में ही वर्त रहे हैं। इसलिये बाह्य उपाधि के त्यागने में किसी प्रकार का संकोच नहीं है।' इत्यादि।

वाक्यार्थश्च सकलवेदार्थाभिज्ञेन ब्रह्मणा ब्रह्मगीतायां स्फुटो दर्शितः—'त्वमहंशब्दवाच्यार्थस्यैव देहादिवस्तुनः। न तच्छब्दार्थतां वक्ति श्रुतिस्तत्त्वमसीति या॥ तदर्थैक्यविरुद्धांशं त्यक्त्वा वाच्यगतं श्रुतिः। अविरुद्धं

*क्योंकि जो सर्वान्तर न हो उसे आत्मा नहीं कह सकते और जिस से भिन्न किसी अन्य की सत्ता हो उसे विभु ब्रह्म नहीं कह सकते।

चिदाकारं लक्षयित्वा ब्रवीति हि ॥ तदर्थे च त्वमर्थैक्यं विरुद्धांशं विनैव च । कारणत्वादि वाच्यस्थं लक्षयित्वा तु केवलम् ॥ चिदाकारं पुनस्तस्य त्वमर्थैक्यं ब्रवीति च । तत्त्वंशब्दार्थभूतस्य चिन्मात्रस्य परात्मनः ॥ एकत्वं यत्स्वतः सिद्धं स हि वाक्यार्थ आस्तिकाः ॥' इति ॥

महावाक्य का अर्थ तो सम्पूर्ण वेदार्थ के ज्ञाता श्रीब्रह्माजी ने ब्रह्मगीता में स्पष्ट ही दिखलाया है—"तत्त्वमसि" ऐसी जो श्रुति है वह त्वम् या अहम् शब्द के वाच्यार्थ देहादि पदार्थ को ही तत् शब्द का वाच्यार्थ नहीं बताती । उन दोनों पदों के अर्थ की एकता में जो इनके वाच्यार्थों के अन्तर्गत विरुद्ध अंश हैं उन्हें छोड़कर उनमें अविरुद्ध चिदाकार को ही लक्षित करके श्रुति उसकी एकता बतलाती है । तदर्थ के साथ त्वमर्थ की एकता अपने विरुद्धांश को छोड़कर ही है । इसी प्रकार तत् शब्द के वाच्यार्थ में विद्यमान कारणत्वादि को त्यागकर केवल चिदाकार को लक्षित करने पर ही त्वमर्थ के साथ उसकी एकता बतलायी जाती है । हे आस्तिक देवगण ! तत् और त्वम् पदों के लक्ष्यार्थ चिन्मात्र परमात्मा का जो स्वतः सिद्ध एकत्व है वही महावाक्य का अर्थ है ।'

तस्माच्छ्रुत्या युक्त्या बहुज्ञानां वचनाच्च जीवस्य सच्चिदानन्दनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपता सिद्धेति भावः ॥

अतः भाव यह कि श्रुति, युक्ति और बहुज्ञों के वचनों से जीव की सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूपता ही सिद्ध

होती है ॥२६॥

उपसंहार

इदानीमुक्तस्वरूपं ब्रह्मात्मत्वेन साक्षात्कुर्वतः पुरुषस्य स्वप्रकाशापरिमितानन्दब्रह्मात्मतावस्थानलक्षणा विदेहमुक्तिः प्रारब्धकर्मक्षयपर्यन्तं देहेन्द्रियादिप्रतिभाससहिता तादृग्ब्रह्मात्मनावस्थानलक्षणा जीवन्मुक्तिश्च फलमित्यभिप्रेत्य प्रकरणमुपसंहरति—

अब उक्त स्वरूप ब्रह्म को स्वात्मस्वरूप से साक्षात् करने वाले पुरुष को स्वप्रकाश अपरिमित आनन्दस्वरूप ब्रह्मभाव से स्थितिरूपा विदेहमुक्ति और प्रारब्धक्षयपर्यन्त देह एवं इन्द्रिय आदि के प्रतिभाससहित वैसे ही ब्रह्मभाव से अवस्थानरूपा जीवन्मुक्तिरूप फल प्राप्त होता है—इस अभिप्राय के सहित प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

उपशान्तजगज्जीवशिष्याचार्येश्वरभ्रमम् ।
स्वतः सिद्धमनाद्यन्तं परिपूर्णमहं महः ॥२७॥

(अहम्) शोधित त्वंपदार्थरूप प्रत्यगात्मा मैं (उपशान्तजगज्जीवशिष्याचार्येश्वरभ्रमम्) जिसमें जगत्, जीव, शिष्य, आचार्य और ईश्वररूप भ्रम निवृत्त हो गये हैं वह (स्वतः सिद्धम्) स्वप्रकाशरूप (अनाद्यन्तम्) आदि-अन्तरहित (परिपूर्णम्) सर्वात्मरूप (महः) तेज हूँ ॥२७॥

उपशान्तो जीवन्मुक्त्यवस्थायां बाधितो विदेहमुक्त्यवस्थायां सर्वात्मना निवृत्तो जगज्जीवशिष्याचार्ये-

श्वरलक्षणो भ्रमो यस्मिंस्तत्तादृशम् । मुक्तिद्वयस्य ज्ञान-फलत्वं सर्वज्ञातममुनिभिरप्युक्तम्– 'जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेर्द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः । द्वैतच्छाया-रक्षणायास्ति लेशस्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥ तस्माज्जीवन्मुक्तिरूपेण विद्वानारब्धानां कर्मणां भोग-सिद्धयै । स्थित्वा भोगं ध्वान्तगन्धं प्रसूतं भुक्त्वात्यन्तं याति कैवल्यमन्ते ॥' इति ।

उपशान्त अर्थात् जीवन्मुक्ति अवस्था में बाधित एवं विदेहमुक्ति अवस्था में पूर्णतया निवृत्त हो गया है जगत्, जीव, शिष्य, आचार्य और ईश्वररूप भ्रम जिसमें ऐसा वह सर्वाधिष्ठान ब्रह्म । इन दोनोंमुक्तियों की ज्ञानफलरूपता श्री सर्वज्ञात्ममुनिजी ने भी कही है–'जीवन्मुक्ति अनुभव से ही सिद्ध है और द्वैत की छाया भी अनुभव से ही सिद्ध है । इस द्वैत की छाया को सुरक्षित रखने के लिये ही लेशाविद्या स्वीकार की गयी है । इस विषय में अपना अनुभव ही प्रमाण है । अतः तत्त्वज्ञ पुरुष प्रारब्ध कर्मों की भोगसिद्धि के लिये जीवन्मुक्तरूप से स्थित रहकर अविद्यालेश से होने वाले भोगों को भोगकर अन्त में आत्यन्तिक विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है।'

स्वतः सिद्धं स्वप्रकाशम्, अनाद्यन्तमाद्यन्तरहितम्, परिपूर्णं सर्वात्मकम् । त्रिविधपरिच्छेदशून्यमित्यर्थः । महस्तेजोऽहमस्मीत्यर्थः ॥२७॥

स्वतः सिद्ध–स्वप्रकाश, अनाद्यन्त–आदि-अन्त से रहित,

परिपूर्ण–सर्वात्मक अर्थात् तीनों प्रकार के परिच्छेद से शून्य महः–तेज मैं हूँ–ऐसा इसका तात्पर्य है ॥२७॥

ग्रन्थावगाहन की प्रार्थना

इदानीमुपनिषत्सारसंग्रहात्मके स्वरचिते प्रकरणे विदुषां प्रवृत्तिं प्रार्थयते––

अब उपनिषदों के सारसंग्रहस्वरूप अपने रचे हुए इस प्रकरणग्रन्थ में विद्वानों की प्रवृत्ति के लिये प्रार्थना करते हैं—

लक्ष्मीधरकवेः सूक्तिशरदम्भोजसंभृतः ।
अद्वैतमकरन्दोऽयं विद्वद्भृङ्गैर्निपीयताम् ॥२८॥

(लक्ष्मीधरकवेः) लक्ष्मीधर नामक कवि के (सूक्तिशरदम्भोजसंभृतः) सूक्तिरूप शरत्कमल में भरे हुए (अयम्) इस (अद्वैतमकरन्दः) अद्वैतमकरन्द का (विद्वद्भृङ्गैः) विद्वान्रूपी भौंरों द्वारा (निपीयताम्) पान होना चाहिये ॥२८॥

लक्ष्मीधर इति ग्रन्थकर्तुर्नाम, स चासौ कविः सर्वज्ञः क्रान्तदर्शी तस्य सूक्तय एव शरदम्भोजानि तेषु संभृतः संपन्नोऽयं सर्वैरनुभूयमानोऽद्वैतमकरन्दः, अद्वैत-ब्रह्मैव मकरन्दो रसः, 'एतमेव रसं साक्षाल्लब्ध्वा देही सनातनम् । सुखी भवति सर्वत्र नान्यथा सुरपुंगवाः ॥' इति ब्रह्मगीतावचनात् ।

लक्ष्मीधर यह ग्रन्थकर्ता का नाम है । वह कवि–सर्वज्ञ अर्थात् क्रान्तदर्शी है । उसकी सुन्दर उक्तियां ही शरत्कालीन

कमल हैं उनमें सम्भृत–सम्पन्न (भराहुआ) यह सब के अनुभव में आनेवाला अद्वैतमकरन्द–अद्वैत ब्रह्मरूप मकरन्द–रस है; जैसा कि 'हे देवश्रेष्ठो ! देहधारी अधिकारी इस सनातन रस को ही साक्षात् (अभेदरूप से) प्राप्त करके सर्वत्र सुखी होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं इस ब्रह्मगीता के वचन से सिद्ध होता है ।'

विद्वद्भृङ्गैः, विद्वांस एव भृङ्गा ब्रह्मरसज्ञास्तैः, निपीयतां नितरामात्माज्ञाननिवृत्तिपर्यन्तं पुनः पुनः सेव्यताम्, 'विचार्याप्यपरोक्षेण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् । अपरोक्षावभासत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥' इति श्री भारतीतीर्थवचनात् ।

विद्वद्भृङ्गों द्वारा–विद्वान् (तत्त्वज्ञ) ही हैं ब्रह्मरस के रसिक भ्रमरगण उनके द्वारा इसका निपान–नितरां अर्थात् आत्मा के अज्ञान की निवृत्तिपर्यन्त पुनः पुनः सेवन होना चाहिये । यह बात श्रीभारतीतीर्थ के इस वचन से भी सिद्ध होती है–'यदि विचार करने पर भी आत्मा को अपरोक्ष ब्रह्म से न जान सके तो जब तक उसका अपरोक्ष ज्ञान न हो तब तक बार-बार विचार करे ।'

यद्यप्यत्र प्रतिश्लोकं बहु वक्तव्यमस्ति, तथापि मन्दबुद्धीनामलसानां व्युत्पादनार्थं प्रवृत्तेन मया ग्रन्थ-काठिन्यगौरवभयादुपरतमिति ॥२८॥

यद्यपि इस ग्रन्थ के एक-एक श्लोक पर बहुत कुछ कहा जा सकता है तथापि मैं तो मन्दबुद्धि और आलसी पुरुषों को समझाने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, अतः ग्रन्थ की कठिनता और विस्तार के भय से मैं इतना कहकर ही निवृत्त होता हूँ ॥२८॥

अद्वैतमकरन्दस्य रसाभिव्यञ्जिका कृता ।
स्वयंप्रकाशयतिना पुरुषोत्तमशासनात् ॥१॥

स्वयंप्रकाश यति ने श्रीपुरुषोत्तम की प्रेरणा से अद्वैतमकरन्द की यह रसाभिव्यञ्जिका नाम की टीका की है ॥१॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादमिच्छद्भिर्विबुधोत्तमैः ।
रसाभिव्यञ्जिका ह्येषा परिशील्या सदाऽऽदरात् ॥२॥

ब्रह्मानन्द के रसास्वादन की इच्छा वाले विद्वानों को इस रसाभिव्यञ्जिका का सर्वदा आदरपूर्वक अनुशीलन (मनन) करना चाहिये ॥२॥

तापत्रयार्कसंतप्ता मोक्षकामा मुदा सह ।
रसाभिव्यञ्जिकागङ्गामग्ना भवत सत्तमाः ॥३॥

सज्जनो ! यदि आप त्रितापरूपी सूर्य से सन्तप्त हैं और मोक्ष की कामना रखते हैं तो इस रसाभिव्यञ्जिका नाम वाली गंगा में प्रसन्नता से डुबकी लगाइये ॥३॥

व्याख्याप्रणीतिच्छलमत्र बुद्धे-
र्ममापराधं विबुधाः क्षमन्ताम् ।
अम्बार्धदेहो भगवानतः स्या-
द्वाचापराधात्पितृवत्प्रसन्नः ॥४॥

यह व्याख्यारचनारूप छल मेरी बुद्धि का अपराध ही है। विद्वज्जन इसे क्षमा करें। जिनके अर्धाङ्ग में श्री अम्बाजी विराजती हैं वे भगवान् शंकर इस बालक के अपराध से पिता की भांति प्रसन्न हों ॥४॥

श्रीकैवल्यानन्दयोगीन्द्रपाद-
पद्मद्वन्द्वे निःस्रवन्मोक्षसारे ।
शुद्धैर्हंसैः सेविते सुप्रसन्ने
मच्चेतोऽर्थी भृङ्गलीलां विधत्ताम् ॥५॥

श्री कैवल्यानन्द योगीद्र के चरणयुगल सुविकसित कमलों के समान हैं, उनसे मोक्षामृत का सार स्रवित हो रहा है तथा शुद्ध परम हंसगण उनका सेवन करते हैं। उन श्रीचरण कमलों में मेरा अर्थी चित्त भ्रमरों का-सा आचरण करे ॥५॥

चिदम्भोधिसंमग्नचित्तं गुणानां
सतामालयं शुद्धसत्त्वप्रधानम् ।
नृणां बोधयन्तं परब्रह्मतत्त्वं
शिवानन्दयोगीन्द्रमीडे सदाहम् ॥६॥

जिनका चित्त सम्यक् प्रकार से चित्समुद्र में डूबा रहता है, जो साधुजनों चित गुणों के स्थान हैं, जिनमें विशुद्ध सत्व गुण की प्रधानता है और जो लोगों को परब्रह्मतत्व का बोध करानेवाले हैं उन श्री शिवानन्द योगीन्द्र की मैं सर्वदा स्तुति करता हूं ॥६॥

॥ ओ३म् ॥

श्रीलक्ष्मीधरविरचित

अद्वैतमकरन्द

स्वयंप्रकाशयतिविरचित संस्कृत व्याख्या
एवं
हिन्दी-अनुवाद-सहित

अनुवादक
स्वामी श्री रामानन्द जी
तथा
स्वामी श्री सनातन देव जी

प्रकाशक :
श्रीनारायणदास मुलतानी
दु० नं० ९६८, फराशखाना,
दिल्ली

संवत् २०१४